ॐ

क्षितीश-ग्रन्थावली

खण्ड-१

सिद्धान्त अंक

सम्पादक-द्वय

डॉ. विवेक आर्य, डॉ. वेदव्रत आलोक

प्रकाशक

हितकारी प्रकाशन समिति

हिण्डौन सिटी-३२२ २३० (राज०)

सहयोग

पं. क्षितीश वेदालंकार स्मृति न्यास

डी-81 गुलमोहर पार्क, नई दिल्ली-110049

पत्रकारिता के आदर्श और आर्यसमाज के विशिष्ट विद्वान पं. क्षितीश वेदालंकार जी ने 1939 में गुरुकुल कांगड़ी से वेदालंकार की उपाधि ग्रहण की। तदनन्तर आगरा विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम.ए. किया। 'दैनिक हिन्दुस्तान' में 26 वर्ष संपादन कार्य किया। तत्पश्चात् 'आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा' के साप्ताहिक मुख पत्र 'आर्य-जगत्' का संपादन दायित्व ग्रहण किया।

हैदराबाद आंदोलन, देश-विभाजन, हिन्दी रक्षा आंदोलन, गौ-रक्षा आंदोलन, आपातकाल, पंजाब का आतंकवाद, कश्मीर समस्या आदि ज्वलंत विषयों पर हमें निर्भीक लेखनी का शस्त्र ग्रहण किए हुए एक स्वयं-सक्रिय धर्मयोद्धा के रूप में आपके दर्शन होते हैं।

रचना संसार: बहुमुखी प्रतिभा के धनी क्षितीश जी का विषय क्षेत्र बहुत व्यापक था। 'आर्यसमाज की विचारधारा', 'दिव्य दयानन्द', 'ईश्वर: वैज्ञानिकों की दृष्टि में', 'श्री कृष्ण सन्देश', 'कश्मीर-झुलसता स्वर्ग', 'राष्ट्रीय एकता की बुनियादें', 'गांधी जी के हास्य-विनोद', 'राष्ट्रीय पत्रकारिता के पुरोधा', 'हिंदी ही क्यों' आदि प्रमुख प्राप्य कृतियों के अतिरिक्त पंजाब समस्या पर आपकी 'पंजाब: तूफान के दौर से', The Storm in Punjab (अंग्रेजी), 'हिन्द की चादर पर दाग' आदि पुस्तकें आपके चिन्तन की विशालता का परिचय देती हैं। आपके लेखों के अनेक संग्रह प्रकाशित हुए, जैसे 'राजनीति नहीं राष्ट्र-नीति' आदि। आपके अनेक यात्रा वृत्तांत भी चर्चित रहे, जैसे– 'बांग्लादेश-स्वतंत्रता के बाद', 'पण्डिम के दुर्गम पथ पर'।

सम्पादक के रूप में: आपने अनेक स्मारिकाओं का भी संपादन किया, जैसे– 1. 'आर्यसमाज मॉरीशस स्मारिका' (1973), 2. 'सत्यार्थप्रकाश शताब्दी स्मारिका' (1979), 3. 'महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी स्मारिका' (1983), आदि। आपने आर्य-जगत् में संपादन-कार्य करते हुए अनेक प्रभावशाली विशेषांक प्रकाशित किए, जैसे– 1. भारत को आर्य (हिन्दू) राज्य घोषित करो (1981), 2. ऋषि बोधांक (1984), आदि। इसके अतिरिक्त आपके कई सौ लेख गुरुकुल पत्रिका, आर्य-जगत्, वेदवाणी, परोपकारी, जनज्ञान, आर्योदय आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए।

प्रकाशकीय

किसी भी विचारधारा के विस्तार के लिये मौखिक प्रचार चाहे वह भाषण के रूप में हो अथवा व्यक्तिगत सम्पर्क के रूप में हो प्रभावशाली हो सकता है, परन्तु साहित्य द्वारा प्रचार का प्रभाव स्थायी तथा असरकारी होता है। मौखिक प्रचार की एक सीमा है। बहुतों को तत्काल और बहुतों को कुछ समय बाद विस्मृत हो जाता है। इसके विपरीत साहित्य का प्रभाव कुछ समय पश्चात् विस्मृत हो भी जाये तो भी उसके पुनः स्मरण के लिये पुस्तक पास में होती है, जबकि भाषण में वक्ता हमेशा उपलब्ध नहीं होता। वर्तमान में यह दृष्टिगोचर हो रहा है कि जिन शक्तियों का प्रचार माध्यम साहित्य है वह बहुत आगे निकल गये हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थमाला के लेखक पं० श्री क्षितीशकुमार जी वेदालंकार की गुरुकुलीय शिक्षा की पृष्ठभूमि, संयम, सदाचार, राष्ट्र-भक्ति तथा समाज को सकारात्मक दिशा देनेवाले परिवेश से सम्बन्ध रखती है। गुरुकुलीय शिक्षा व्यक्ति को जीवन के सम्पूर्ण आयाम प्रदान करती है, बशर्ते वह अपना दृष्टिकोण विशद व सजग रखे। और, वह विशाल चिन्तन प्रदान करती है, जिसके सहारे वह व्यक्तिगत उन्नति के साथ समाज और राष्ट्र की दुर्बलताओं पर सकारात्मक चिन्तन द्वारा विपरीत परिस्थितियों में भी प्रहार करने की क्षमता रखता हो।

क्षितीश जी ने सामयिक और शाश्वत, प्रांतीय और राष्ट्रीय, सामाजिक और धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक, गम्भीर और विनोदी, सभी प्रकार के विषयों पर मौलिक चिन्तन के साथ लिखा। उनकी लेखनी से नीरस और तथ्यात्मक विषय भी रोचक और साहित्यिक रूप ले लेते थे। परन्तु उनके सारे लेखन में राष्ट्रवादी विचार ही प्रमुख थे। ऋषि दयानन्द उनकी दृष्टि में आप्त राष्ट्र-पुरुष ही थे। इसीलिए उनके साहित्य में ऋषि दयानन्द के विचारों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखता है।

क्षितीश जी का ओजस्वी व प्रखर रूप उनकी पत्रकारिता में इतस्ततः दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने आर्यजगत् का सम्पादन जिस वाग्मिता के साथ साहस पूर्वक किया वह उन जैसा सम्पादक ही कर सकता था। जो अपने-पराये का विचार

सम्पादकीय

महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज के माध्यम से वैदिक सनातन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए, भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के उदात्त और शुद्ध स्वरूप को प्रस्तुत करने के लिये तथा भारतीयों के मन में राष्ट्रीयता और उसके प्रति गौरवभाव जगाने के लिए जो अभियान चलाया था, उसके अन्तर्गत बीसवीं शताब्दी के प्रथमार्ध में बड़ी संख्या में आर्य विचारधारा के मनीषियों, विद्वानों और समाज सेवियों का निर्माण हुआ। गुरुकुलों की स्थापना ने वैदिक वाङ्मय, भारतीय दर्शन एवं साहित्य के विद्वानों की एक नई पीढ़ी को जन्म दिया। कोई वेदों का पारङ्गत बना तो कोई दर्शनाचार्य, कोई शास्त्रार्थ महारथी बना तो कोई इतिहासकार, किसी ने संस्कृत भाषा में विद्वता प्राप्त की तो किसी ने व्याकरण और निरुक्त में। वैदिक सिद्धांतों का प्रतिपादन और व्याख्या करने वाले आर्य विद्वानों की एक लम्बी सूची है। प्रायः सभी विद्वान् भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अपनी अमिट छाप छोड़ गये हैं। इन्हीं महान् आधार स्तम्भों में हमारे चरित्र नायक श्री क्षितीश वेदालंकार जी भी थे जिनकी प्रतिभा सर्वांगीण और सर्वतोमुखी थी। जहाँ वे प्रगल्भ वक्ता थे, वहीं उनकी लेखनी भी वैसी ही प्रभावी थी। अध्ययन-शीलता के कारण सामाजिक विषयों में उनका ज्ञान जहाँ अगाध था वहीं राजनीतिक अभिलेख के रूप में पैठ बड़ी गहरी थी। धर्म, राजनीति, इतिहास, पर्यटन, साहित्य, समाज-सुधार, संस्कृति आदि में उनकी प्रतिभा अद्भुत थी। छोटा कद, सांवला रंग, सामान्य दिखाई देने वाले क्षितीश जी अपनी विद्वता, वाक्पटुता तथा आकर्षक लेखन शैली से अपने सम्पर्क में आने वाले को सहज ही आकर्षित कर लेते थे।

पं० जी का जन्म दिल्ली के एक प्रतिष्ठित परिवार में १६ सितम्बर १९१६ को हुआ। आपके पूर्वज हरियाणा में रिवाड़ी के समीप कनीना खास नामक ग्राम से सम्बन्धित थे। आपकी शिक्षा-दीक्षा गुरुकुल ज्वालापुर, गुरुकुल कुरुक्षेत्र, गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ और गुरुकुल कांगड़ी में हुई। बाल्यकाल से ही वाद-विवाद

साथ आपका अंतर्जातीय विवाह हुआ। आप जीवन भर अपने पति के साथ हर कठिन मोड़ पर खड़ी रहीं। एक उपदेशक की आय कितनी होती है? बढ़ते परिवार के खर्चों और आय में सामंजस्य बैठाकर बिना शिकायत के गृहस्थी चलाने का महान् कार्य आपकी दक्षता का परिचायक था। देश के विभाजन के साथ आप को आजीविका की समस्या का सामना करना पड़ा। पं० इन्द्र जी के प्रस्ताव पर आप १६ अक्टूबर, १९४७ से वीर अर्जुन में उप-संपादक और कुछ समय साप्ताहिक अर्जुन के संपादक रहे। लेखक के रूप में आजीविका के लिए साहित्यिक जगत् में प्रवेश किया। दिल्ली में १९५० में संस्कृत सभा की स्थापना हुई। पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति जी प्रधान और आप मन्त्री बने। यह पद आपको अपनी प्रतिभा के कारण ही मिला था। आपने अपने नाम के आगे कभी भी जाति सूचक संबोधन नहीं लगाया क्योंकि आप जातिवाद के घोर विरोधी थे। पर आप अपनी निस्पृहता, सरलता, पांडित्य-पूर्ण विद्वत्ता और विनम्रता के कारण ब्राह्मण वर्ण के थे इसमें कोई शंका नहीं है।

वीर अर्जुन की आर्थिक स्थिति डांवांडोल थी। आपको अवसर मिला तो आपने १५ मार्च, १९५३ में दैनिक हिन्दुस्तान में पद ग्रहण किया। आप शीघ्र ही अपनी कर्मठता से उप संपादक, मुख्य उप संपादक से सहायक संपादक बन गये। पत्र में छपने वाले लेखों का चयन, संपादन, प्रकाशन का गम्भीर दायित्व आपके ऊपर था। इसके साथ आप नियमित रूप से स्तंभ और अग्र लेख भी लिखते थे। हिंदुस्तान से अवकाश प्राप्त करने के पश्चात् आप जून १९७९ में आर्य जगत् के संपादक हो गए। आपने १४ वर्ष तक आर्य जगत् का कुशल संपादन किया। आपके मार्गदर्शन में यह हजारों की संख्या में प्रकाशित होने लगा। मई १९९२ में आपने आर्य जगत् से अवकाश लिया। जीवन के अंतिम डेढ़ वर्ष आप अस्वस्थ रहे। आपका देहान्त २४ दिसम्बर १९९२ को हुआ।

आपके दोनों सुपुत्र और दोनों सुपुत्रियाँ अपने-अपने क्षेत्रों में आर्थिक एवं सामाजिक रूप से उत्तम कार्य कर रहे हैं। आपके परिवार ने १९९३ में आपकी स्मृति में पंडित क्षितीश वेदालंकार स्मृति न्यास के नाम से ट्रस्ट की स्थापना की। ट्रस्ट की प्रथम अध्यक्षा आपकी पत्नी श्रीमती पवित्रा देवी जी को बनाया गया। ट्रस्ट के मुख्य कार्य गुरुकुल में पढ़ने वाले आर्ष विद्या के छात्र-छात्राओं को छात्रवृत्ति देना, संस्कृत भाषा एवं पत्रकारिता के लिए शिक्षण संस्थान आदि को सहयोग देना, साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक साहित्य के प्रकाशन में सहयोग देना, सामान्य जनता के उपयोग एवं कल्याण के लिए सहयोग देना आदि हैं।

पं० क्षितीश जी जीवनभर सामाजिक कार्यों में लगे रहे तथा निःस्वार्थी जीवन अपनाया। उनके कार्यों से प्रभावित होकर अनेक संस्थाओं ने उन्हें सम्मानित किया। कुछ का विवरण प्रस्तुत है—सन् १९३९ में गुरुकुल कांगड़ी से वेदालंकार और आगरा विश्वविद्यालय से १९५४ में एम०ए० किया। सन् १९८३ में ऋषि दयानन्द निर्वाण शताब्दी पर आर्यरत्न से सम्मानित हुए। इसके अतिरिक्त १९८१ में दक्षिण दिल्ली वेद प्रचार मंडल, १९८८ में आर्यसमाज नया बांस, आर्यसमाज लाजपत नगर, आर्यसमाज चूनामण्डी पहाड़गंज, आर्यसमाज करोल बाग, भारतीय दलितोद्धार सभा और आर्यसमाज 'अनारकली' मन्दिर मार्ग में २० नवम्बर १९८८ को केन्द्रीय आर्ययुवक परिषद की ओर से, १७ अगस्त १९८९ को आर्यसमाज दीवान हाल में सार्वदेशिक सभा की ओर से, १५ अगस्त १९८९ को इन्द्र विद्यावाचस्पति जन्म शताब्दी के अवसर पर दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से, १८ मार्च १९९० को दीवान हाल में गुरुदत्त विद्यार्थी बलिदान शताब्दी की ओर से सम्मानित किये गए। २४ मार्च १९९० को सप्रू हाउस में आर्यसमाज स्थापना दिवस पर लालमन आर्य पुरस्कार से सम्मानित हुए। २७ मई १९९० को जयपुर में आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान शताब्दी समारोह के अवसर पर सम्मानित, १६ अप्रैल १९९१ को तालकटोरा गार्डन में महात्मा हंसराज दिवस पर प्रधानमन्त्री श्री चन्द्रशेखर द्वारा सम्मानित किये गए। इसके अतिरिक्त पं० क्षितीश वेदालंकार को अनेक राजनेताओं और संस्थाओं ने सम्मानित किया जिनकी गणना ही मुश्किल है।

Vol - 1

अन्तर्वस्तु

	विषय	पृ०सं०
	अपनी बात	४९
१.	**आर्य सत्याग्रह में गुरुकुल की आहुति**	**५२**
	भूमिका	५३
	दो शब्द	५७
	२८ जनवरी.....	५८
	चलते-चलते—रेल में	६२
	सिकन्दराबाद में दो रातें	६५
	गिरफ्तार हो गए	६८
	जेल की ओर	७१
	चंचलगुडा	७४
	अदालत में	७८
	मि० हालिन्स आए	८२
	बदरखा	८७
	बिखरी यादें	९५
	पूर्णमेवावशिष्यते	१२३
	सत्याग्रह की बलि	१२७
	बन्दी	१२८
२.	**हैदराबाद में सत्याग्रह क्यों**	**१३३**
	नींव विश्वासघात पर	१३४
	सामाजिक और राजनीतिक परिदृश्य	१३७
	खिलाफ़त आन्दोलन के विष बीज	१४१
	इस्लामी सल्तनत का स्वप्न	१४४
	आर्यसमाज की चुनौती	१४८
	हुतात्मा सत्याग्रही	१६६
	उज्ज्वलतर शौर्यदीप	१६९
	परिशिष्ट-१	१७६
	परिशिष्ट-२	१७८

Vol - 2

विषयसूची

	पृष्ठभूमि	48
1.	प्रस्तावना- अंग्रेजी के कफन की कील	49
2.	स्वतंत्र भारत का संदेश संसार के नाम	50
3.	जब राजा जी ने माफी मांगी	51
4.	क्या अंग्रेजी राष्ट्रीय एकता का साधन है? -आचार्य विनोबा भावे	52
5.	क्या हम राज्य-शास्त्र के अटल सिद्धांत को उलट देंगे? -मोरारजी देसाई	58
6.	मूल्य चुकाना ही पड़ेगा -वी.के.आर.वी. राव	62
7.	कोई भी प्रान्त 'इतर' नहीं -आरिगपूडि	67
8.	हिन्दी का विरोध देश की एकता का विरोध है -फादर कामिल बुल्के	71
9.	शोषण और लूट का जबर्दस्त हथियार - अंग्रेजी -जार्ज फर्नांडीस	76
10.	सांस्कृतिक एकता के लिए हिन्दी आवश्यक -प्रो. चन्द्रहासन	81
11.	राष्ट्रीय एकता का प्रतीक - हिन्दी -दयाराम बेरी	85
12.	हिन्दी का सार्वदेशिक स्वभाव -डॉ. रामधारीसिंह 'दिनकर'	87
13.	लोकभाषा और लोकराज -डॉ. राम विलास शर्मा	97

14. प्रश्न माध्यम का नहीं, अंग्रेजी हटाने का है 104
–डॉ. राम मनोहर लोहिया

15. शिक्षा का माध्यमः मातृभाषाएं 108
–अमरनाथ विद्यालंकार

16. आत्मवंचना को प्रश्रय 115
–वाल्मीकि चौधरी

17. किसे मानें – प्रधानमंत्री का आश्वासन या राष्ट्रपति का आदेश? 120
–प्रकाशवीर शास्त्री

18. भाषा विधेयक का घातक पहलू 125
–शिवचन्द्र शर्मा

19. नेहरू जी के आश्वासनों के नाम पर जनता से छल 127
–डॉ. कैलाशचन्द्र भाटिया

20. शंकराचार्यों का आह्वान 131
–शिवकुमार गोयल

21. अंग्रेजी–समर्थक आदेश की परवाह न करें 134
–सेठ गोविन्ददास

22. अपराधी कौन – जनता या सरकार? 137
–सूर्यनारायण व्यास

23. यदि मैं तमिल या बंगाली होती! 141
–महादेवी वर्मा

24. यदि मैं तमिल या बंगाली होता! 143
–सुमित्रानन्दन पन्त

25. यदि मैं तमिल या बंगाली होता! 145
–डॉ. रामकुमार वर्मा

Vol - 3

विषयानुक्रम

दयानन्द और आर्यसमाज

1. ऋषि दयानन्द के आने से पहले 30
2. मूलशंकर के बालसखा-इब्राहीम 43
3. स्वातन्त्र्य संघर्ष की दोनों धाराओं के जनक 45
4. ऋषि दयानन्द-1857 से 1875 तक 52
5. आर्यसमाज की स्थापना का महत्त्व 78
6. आर्यसमाज की विचारधारा 82
7. ऋषि दयानन्द क्या चाहते थे? 92
8. स्वतन्त्रता-संग्राम में आर्यसमाज का योगदान 96

ईश्वर, वेद और सत्यार्थप्रकाश

9. ईश्वर के स्वरूप का दार्शनिक और वैज्ञानिक विवेचन 102
10. ईश्वरीय ज्ञान (इलहाम) बुद्धिवाद की कसौटी पर 126
11. मैं कौन हूँ? 135
12. ऋग्वेद में 'भारत' और 'भारती' 145
13. वाममार्ग का उद्‌भव, स्वरूप और विकास 152

शिक्षा और संस्कृत

14. शिक्षा का उद्देश्य 172
15. गलत दिशा देने वाली शिक्षा 178
16. भारत को इण्डिया मत बनाओ 183
17. व्याध का घातक तीर 187
18. क्या संस्कृत मृत भाषा है? 191
19. बिना केन्द्रबिन्दु के वृत्त और परिधि कैसी? 195

धर्म, समाज और राजनीति

20. धर्म और राजनीति 199
21. हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान 212
22. हिन्दू-विरोधी से राष्ट्र-विरोधी 217
23. हिन्दू राज्य ही क्यों? 222
24. कुरीतियाँ कैसे पनपती हैं? 229
25. इतिहास की गंगा का प्रदूषण 233
26. इस्लाम अपने ही आईने में 237
27. अल्पसंख्यकों की समस्या 241
28. आरक्षण या जातियुद्ध 245

आर्य महापुरुष

29. आर्य संस्कृति के प्रतीक-श्रीराम 249
30. राष्ट्रधर्म के पुरस्कर्ता-श्रीकृष्ण 253
31. दो गुरुदत्त 262
32. अपने लहू से लेखराम तेरी कहानी लिख गया 282
33. शिक्षा क्षेत्र के दो दिशानायक महारथी 287

विविध

34. श्रीकृष्ण की द्वारका 308
35. ऋषि दयानन्द-मेरी दृष्टि में आप्त राष्ट्रपुरुष 316
36. उपदेशक-जीवन के संस्मरण 350

Vol - 4

अनुक्रम

	मेरे दरवेश! (भूमिका)	१५
१.	स्वप्न की तलाश में	१८
२.	कलकत्ता से ढाका	२७
३.	चटगाँव : जो कभी क्रान्तिकारियों का केन्द्र था	३५
४.	बिहारी कहाँ गए?	४३
५.	अराजकता से त्रस्त और महंगाई से पस्त	४८
६.	जीवट के लोग	५४
७.	अल्पसंख्यकों का भविष्य	६१
८.	अरविन्द की याद में	७५
९.	आखिर चक्रव्यूह से कैसे निकला?	८४
१०.	मुजीब से मुजीब तक	९०
११.	पटाक्षेप	१११
१२.	लपटों का घेरा	१२६
१३.	विप्लवी भूमि	१३७
१४.	स्वप्न की मंजिल	१५३

Vol - 5

अनुक्रम

१. फिर इस अन्दाज से बहार आई	(बसन्त के आगमन पर)	१५
२. दया करो श्रीमती एनोफिलीज	(दिल्ली में मच्छरों के प्रकोप पर)	१९
३. दिल की कहानी	(हृदय संबंधी ललित निबन्ध)	२३
४. मिडास का पश्चात्ताप	(संदर्भ: आधुनिक विज्ञान और साहित्य)	२७
५. मर कर भी न छूटा रब्त मेरा मयखाने से	(महापुरुषों के मरणोत्तर चरित्र हनन पर)	३१
६. आनन्दोत्सव का निमंत्रण	(होली के अवसर पर)	३४
७. कब तक रहोगे चांद सितारों से दूर-दूर	(चन्द्रयात्रा पर)	३७
८. कलियुग का सोमरस	(चाय-चर्चा)	४१
९. तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे	(रामनवमी पर)	४५
१०. रख दे कोई जरा सी खाके-वतन कफन में	(संदर्भ: चण्डीगढ़ में जिप्सी सम्मेलन)	४९
११. बेबल का मीनार	(भाषा-भेद की विडम्बना पर)	५३
१२. न जाने कितने घरौंदे बना के तोड़े हैं	(संदर्भ: दिवास्वप्न)	५६
१३. प्रेम न बाड़ी ऊपजे	(प्रेम की महिमा पर)	६०
१४. मुझको कहां ढूंढे बन्दे मैं तो तेरे पास रे	(संदर्भ: विवाह और भारतीय तत्त्वज्ञान)	६४
१५. लक्ष्मी जी का मायका	(समुद्रगर्भ में छिपी सम्पदा के दोहन से सम्बद्ध)	६७
१६. शब्दों की दुनिया		७०
१७. भारत के ये रसीले राजदूत	(संदर्भ: आमों का निर्यात)	७४
१८. जब याद करूं हल्दीघाटी......	(हल्दी घाटी की चतु:शती के अवसर पर)	७८
१९. सुनहु विटप! हम फूल हैं तिहारे	(वृक्षारोपण सप्ताह के अवसर पर)	८२

Vol - 6

विषय-सूची

			पृ. सं.
१.	जनता के मन में जहर मत घोलो	– जनवरी १, १९८४	१३
२.	मौसेरे भाई	– जनवरी १५, १९८४	१७
३.	प्राथमिकतायें बदलनी होंगी	– जनवरी २२, १९८४	२०
४.	मानवाधिकार आयोग	– जनवरी २९, १९८४	२४
५.	मुस्लिम पर्सनल लॉ	– फरवरी ५, १९८४	२८
६.	नया ऋषिबोध	– फरवरी २६, १९८४	३२
७.	सिखों की 'बहादुरी'	– मार्च ११, १९८४	३७
८.	यह दुविधा क्यों ?	– मार्च २५, १९८४	४१
९.	पच्चीसवाँ अनुच्छेद और भारत सरकार	– अप्रैल ८, १९८४	४५
१०.	अनतुले आदिक और अंतुले	– मई ६, १९८४	४९
११.	लोंगोवाल की अग्नि-परीक्षा	– मई १३, १९८४	५३
१२.	एक टेक रघुनाथ	– मई २०, १९८४	५७
१३.	सावरकर की याद	– मई २७, १९८४	६१
१४.	जब अखबार मुकाबिल हो तो तोप निकालो	– मई २७, १९८४	६५
१५.	भिवंडी का (ग) हरा रंग	– जून ३, १९८४	६९
१६.	आर्यसमाज की भूमिका	– जून १०, १९८४	७२
१७.	खेल खत्म, खेल शुरू	– जून १७, १९८४	७६
१८.	'हिन्द की चादर' पर दाग	– जून २४, १९८४	८०
१९.	अरदास : पश्चात्ताप : धन्यवाद	– जुलाई १, १९८४	८३

२०.	कश्मीर में भी ऐतिहासिक भूमिका	– जुलाई १५, १९८४	८६
२१.	कैसे हैं ये जगन्नाथ?	– जुलाई २२, १९८४	९०
२२.	आओ सब मिलकर सेवा करें	– जुलाई २९, १९८४	९४
२३.	पहले भारतीय, पीछे कुछ और	– अगस्त ५, १९८४	९७
२४.	हम कहाँ से कहाँ पहुँचे?	– अगस्त १२, १९८४	१०१
२५.	अक्ल कब आयेगी?	– अगस्त १९, १९८४	१०५
२६.	राम की राम से भिड़न्त	– सितम्बर २, १९८४	१०८
२७.	मनः-स्थिति नहीं बदली	– सितम्बर ९, १९८४	१११
२८.	गोधन : राष्ट्रधन	– सितम्बर १६, १९८४	११४
२९.	करनाल चलो, मगर क्यों?	– सितम्बर २३, १९८४	११८
३०.	ये कौन से जीवन मूल्य हैं?	– सितम्बर ३०, १९८४	१२२
३१.	अरदास में हम भी शामिल हैं	– अक्टूबर ७, १९८४	१२५
३२.	उतरा तेरे किनारे जब कारवाँ हमारा	– अक्टूबर २१, १९८४	१२९
३३.	चुनावों की सरगरमी शुरू	– नवम्बर ४, १९८४	१३३
३४.	हिम्मत है तो चुनौती का जवाब दो	– नवम्बर १८, १९८४	१३६
३५.	महाकुंभ और समुद्र-मंथन	– नवम्बर २५, १९८४	१४०
३६.	विष या अमृत	– दिसम्बर २, १९८४	१४३
३७.	चुनावी रथ यात्रा	– दिसम्बर ९, १९८४	१४६
३८.	वोट किसको दें?	– दिसम्बर १६, १९८४	१५०
३९.	अमर हुतात्मा का स्मरण	– दिसम्बर २३, १९८४	१५४

Vol - 7
अनुक्रम

पण्डित क्षितीश जी का राष्ट्र-चिन्तन (डॉ. वेदव्रत 'आलोक') 4
पाठक-गण, क्षमा करें! (पं. क्षितीश कुमार वेदालंकार) 9
करें कौन सा सुमन समर्पित! (डॉ. वेदव्रत 'आलोक') 13

I. देश-दृष्टि

सफर गांधी से गांधी तक 21
स्वागत, हे गणराज्य तुम्हारा! 25
सपने चूर-चूर हो गये 29
जिस अमृत की तलाश थी 32
आजादी की यह कैसी दौड़? 35
अन्धविश्वासों की बाढ़ 38
हम कहां हैं? 42
तलवार नहीं कलम 46
खाली हाथ, भरे दिल 50
लोकतंत्र की शर्त 53
क्या इन अंध-विश्वासों की भी कोई सीमा है? 57
हे गणतन्त्र-दिवस! 61
जब तन्त्र लोक पर हावी हो 65
अमृत-कुम्भ में विष 69
दिवाली नहीं दिवाला 73
नई चुनौतियां (1) 76
नई चुनौतियां (2) 80
नई चुनौतियां (3) 85
नई चुनौतियां (4) 88
कारवां गुजर गया, गुबार देखते रहे 92
गणराज्य की नई चुनौतियां 96

II. जाति-धर्म-भाषा की साम्प्रदायिकता

भोर की वह किरण कहां है? 102

उन्माद और घृणा का ताण्डव 106

हे श्रीनाथ जी! वे क्यों है अनाथ जी? 110

जहां सरकार फेल हो गई 114

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता 118

मीरी और पीरी: और एक भ्रम 122

कांची और पुरी 126

शाहबुद्दीन उवाच 130

शैतानी आयतों की करामात 134

राजनीति का हिन्दूकरण 138

शाहबुद्दीन का नया पैंतरा 142

उर्दू के नाम पर देश को मत बांटिए! 145

हिन्दुत्व के सम्बन्ध में भ्रान्तियां 149

धर्म-निरपेक्षता की यह कैसी आड़? 153

आरक्षण की उलझन-भरी समस्या 157

आरक्षण या जातियुद्ध 161

हों युवक डूबे भले ही 165

साम्प्रदायिक कौन? धर्म-निरपेक्ष कौन? 169

राम या बाबर 173

धार्मिक पूजा-स्थल विधेयक 177

साफगोई से कतराना क्यों? 181

सही राष्ट्रवादी स्वामी श्रद्धानन्द 185

हे राम! तुमने फिर आराम हराम कर दिया! 190

'धर्म-निरपेक्षता' शब्द से अनर्थ 194

III. प्रान्तीयता और आतंकवाद

पूर्वांचल का ज्वालामुखी 199

लहू इंसां का जायज है 204

अराजकता की ओर 209

Vol - 1

[१]

२८ जनवरी....

२८ जनवरी का दिन था—

अभी दो दिन पहले 'वसन्तपंचमी' मनाकर चुके थे। चारों ओर वसन्ती रंग के दर्शन किये थे-पुरुष में भी और प्रकृति में भी-जिस प्रकार छोटे-छोटे ब्रह्मचारियों ने वसन्ती रंग की धोतियाँ पहनी थीं और उपाध्याय वर्ग ने वसन्ती रंग का दुपट्टा गले में डाला था उसी प्रकार प्रकृति भी पीत पुष्प-गुच्छ का परिधान पहनकर सजधज कर खड़ी थी।

उस दिन हमने शिवाजी, राणा प्रताप, गुरु गोविन्द सिंह जैसे महापुरुषों को याद किया था, जिन्होंने प्रभु से प्रार्थना की थी-'मेरा रँग दे बसन्ती चोला' और फिर न केवल स्वयं ही केसरिया बाना पहना था, किन्तु अपने असंख्य अनुयायियों को भी उसी रंग में सराबोर कर दिया था। और फिर एक आँसू उस वीर हकीकत राय की स्मृति पर गिराया था, जिसने धर्म की बलिवेदी पर अपने प्राणों की आहुति दे दी थी और अपने नाम के साथ इस पर्व को भी अमर कर दिया था।

उससे और दो दिन पहले २२ जनवरी को 'हैदराबाद-दिवस' मना कर चुके थे। उस सुदूर दक्षिण की मुस्लिम रियासत के अनेक अत्याचारों की, धार्मिक कृत्यों पर पाबन्दी की और नागरिकता के अपहरण की बड़े जोश के साथ हमने चर्चा की थी। और साथ ही सार्वदेशिक सभा की सत्याग्रह-घोषणा भी सुनी थी।

फरवरी मास के अन्तिम दिनों में विश्वविद्यालय की वार्षिक परीक्षा होने वाली थी। केवल एक महीना बचा था कि मैं भी अपने सहपाठियों के साथ स्नातक बनता—मेरे भी संरक्षक औरों की तरह सगे-सम्बन्धियों को प्रभूत संख्या में इकट्ठा करके वार्षिकोत्सव पर समावर्तन-संस्कार देखने आते और मैं अपनी एक माता की गोद से दूसरी माता की गोद में—कुल माता की संकुचित गोद से भारत माता की विस्तृत गोद में—जा पहुँचता। किन्तु ऐसा न होने पाया।

और अचानक ही २८ जनवरी को आर्यसमाज के सर्वप्रथम सर्वाधिकारी श्री पूज्य महात्मा नारायण स्वामीजी का तार आ पहुँचा और सत्याग्रही सैनिकों का आह्वान हुआ।

आर्यसमाज की प्राण-भूत संस्था से माँग की गई। हैदराबाद में आर्यसमाज पर संकट है। सेनापति ने बिगुल बजाया और इधर एक इशारे पर बलि-पन्थी सिपाही कमर बाँधकर तैयार हो गये। न भूत देखा न भविष्य। उसी रात को कुछ दीवाने चुपचाप अपने माथे पर कुंकुम का रक्त-तिलक लगाकर, पीयूषवाहिनी मन्दाकिनी का शुभ्र अंचल अपने अन्तिम नमस्कारों से अभिषिक्त करके, और चिर-अचल भारतीय संस्कृति के अमर सन्देशवाहक वृद्ध पिता हिमालय के चरणों में अपना प्रणत प्रणाम कर उद्देश्य-पूर्ति के लिये गाड़ी पर बैठ गये।

उस समय की बात कह रहा हूँ जिस समय इस विषय में समाचार-पत्र सर्वथा मूक थे, दुनिया के कानों को पता भी नहीं था कि यज्ञ की प्रथम आहुति चल पड़ी है!

दिल्ली पहुँचे। संरक्षक अपने बालगोपालों को इस अद्भुत रण-सज्जा के लिये कटिबद्ध देखकर विस्मित रह गये—"यह क्या! अभी तो समाचार-पत्रों में कोई खबर भी नहीं कि सत्याग्रह शुरू हो गया है! सब से पहिले तुम को कैसे भेज दें, जान-बूझकर आग की भट्टी में कैसे झोंक दें, उन नृशंस अत्याचारियों की रियासत में, जहाँ कोई 'उत्तरदायी शासन' नहीं है, जहाँ कोई धार्मिक सहिष्णुता का नाम लेने वाला नहीं है, जहाँ हरेक हिन्दू काफ़िर समझा जाता है और दिन-दहाड़े क़त्ल होते रहते हैं—वहाँ यदि किसी ने चलते-फिरते पेट में छुरा भोंक दिया तो क्या होगा?"

"क्या होगा, यह तो हम नहीं जानते। हम तो केवल इतना जानते हैं कि हमारे सेनानी ने हमें बुलाया है और इस समय एक सच्चे सैनिक का कर्त्तव्य यही है कि वह बिना ननुनच किये चुपचाप अपने सेनापति के आदेश का पालन करे। आर्यसमाज में हमने जन्म लिया है, उसी ने हमें पाला है और पुष्ट किया है और चौदह साल तक हम आर्यसमाज की एकमात्र संस्था गुरुकुल में शिक्षा पाते रहे हैं। फिर यह कैसे हो सकता है कि आज, जब कि आर्यसमाज पर संकट आया है—परीक्षा का समय है, तो हम पीछे हट जायें! यह नहीं हो सकता। हमारा निश्चय अटल है। अब जो कदम आगे बढ़ गया वह पीछे नहीं हट सकता।"

घण्टों उपदेश घण्टों वादविवाद। बड़े-बड़े बुजुर्गों ने समझाया—"विद्यार्थी-जीवन तैयारी के लिये है। अभी देश को और समाज को तुम से बड़ी-बड़ी

लगता था कि एक ऐसा भय का राज्य चारों ओर छाया हुआ है जिसके कारण उनकी हँसी बाहर नहीं निकल सकती—कहीं हँसे कि एकदम पकड़े गये, मानो हँसना भी पाप हो!

आखिर उसी धर्मशाला के बरामदे में—जो खाली पड़ा था, ठहरने की स्वीकृति मिल गई। हमें भी कोई आपत्ति नहीं थी, क्योंकि सामान तो कुछ था नहीं। अपनी एक मात्र सम्पत्ति—कम्बल, कोने में पटक दिये। देखते ही देखते सी० आई० डी० के दो आदमी धर्मशाला के मुख्य द्वार पर दोनों ओर आकर बैठ गये, दो सड़क के ऊपर और दो हमारे साथ ही अन्दर—हमारी हरेक क्रिया का निरीक्षण करने के लिए और प्रत्येक गतिविधि की जाँच करने के लिए।

दुपहर को १० बजे हमें थाने में बुलाया गया। करीब घण्टे भर की प्रतीक्षा करने के बाद थानेदार साहब आये और हमारे नाम-पते पूछने लगे। हमने वही पुराने नाम जो काजीपेट में लिखवाये थे, लिखवा दिये। पूछा—किसलिये आये हो? कह दिया—सैर के लिये आये हैं। पूछा—कब तक ठहरोगे? कह दिया—तीन-चार दिन सैर करके चले जायेंगे। थानेदार साहब अपने असिस्टैण्ट के सामने हमारी सचाई के विषय में सन्देह प्रकट करने लगे और उनके इस सन्देह पर मन में हँसते हुए हम वापिस धर्मशाला में लौट आये।

एक मुश्किल और आ गई। हम दिल्ली से जितने रुपये लेकर चले थे वे सारे रुपये भी समाप्त हो गये। जान-पहचान किसी से थी नहीं-यह पहले ही कह चुका हूँ। समस्या सामने थी-क्या किया जाये? समाधान कोई था नहीं।

अकस्मात् ही ध्यान में आया कि हैदराबाद में गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक श्री बैरिस्टर विनायकराव जी विद्यालंकार रहते हैं-उनके पास किसी तरह ख़बर भिजवाई जावे। इधर-उधर पूछताछ की तो पता लगा कि उनको जानते तो सभी हैं, क्योंकि वे स्टेट के सबसे बड़े कार्यकर्त्ता हैं, किन्तु उनके पास ख़बर पहुँचाई कैसे जावे? हमारे चारों ओर सी० आई० डी० का पहरा है। हम एक क़दम भी धर्मशाला से बाहर नहीं रख सकते, किसी से बात नहीं कर सकते। तो फिर?

पान खाने के बहाने एक पनवाड़ी को अन्दर बुलाया और उसको तैयार किया कि वह हमारी चिट्ठी लेकर विनायकराव जी के पास पहुँचा दे। वह तैयार हो गया। नौजवान था, हमारी चिट्ठी ली और साइकिल लेकर सीधा हैदराबाद पहुँचा-हैदराबाद वहाँ से चार मील दूर तो था ही। लगभग दो घण्टे बाद वह उसका उत्तर लेकर सकुशल वापिस आ गया—लिखा था—'घबराने की कोई बात नहीं। अभी दो आदमी तुमसे मिलने आयेंगे वे सब प्रबन्ध कर देंगे।'

यथा समय वे दोनों आये। पान देने के बहाने पनवाड़ी अन्दर आया और बता गया कि वे दोनों आ गये हैं, एवं इस समय पास वाले होटल में बैठे हैं। मैं भी उस होटल में पहुँच गया-तीनों ने चाय के प्याले मँगवा लिये, और चाय की ओट में बातें करने लगे। उनको बताया कि किस तरह यहाँ तक पहुँचे, और आगे क्या करें—यह हमें कुछ पता नहीं। हमारी परस्थिति अच्छी तरह समझकर वे उसी दिन फिर रात को मिलने का वायदा करके लौट गये।

दिन कैसे गुज़रा—कुछ कहा नहीं जा सकता। आपस में बात नहीं कर सकते—क्योंकि सिर पर सी० आई० डी० तैनात है। इधर-उधर कहीं बाहर नहीं जा सकते—क्योंकि दरवाज़े पर भी यमदूत बैठे हैं और सड़क पर भी। निरी उदासी-ग़म और भविष्य की कल्पनायें। मन इतना भारी हो गया जैसे कि उसमें उड़ने की शक्ति रही ही न हो—विचार-शून्य, जड़।

रात के ग्यारह बजे। सड़क की रोशनी से दूर—एक घना पेड़-नीचे अन्धकार—न जाने कितनी गलियाँ घूम-घूम कर मैं वहाँ पहुँचा था—कोई पीछा न कर सके इसलिये—वे दोनों फिर मिले। विचार-विनिमय हुआ कि किस तरह हैदराबाद पहुँचें और सत्याग्रह करें। कई स्कीमें बनीं किन्तु हरेक में कोई न कोई दोष निकल आता। अन्त में अगले दिन के लिये स्थगित करके वे लौट गये।

अगला दिन। हमने सवेरे से ही शहर में घूमना शुरू कर दिया—पन्द्रह लड़के-कोई किसी ओर और कोई किसी ओर-इधर से उधर, उधर से इधर, कभी धर्मशाला एकदम बिल्कुल खाली, कभी एकदम सारे के सारे वहाँ उपस्थित। हमारी गतिविधि जाँच करने वाले और हमारा पीछा करने वाले सी० आई० डी० के आदमी तंग हो गये। कहाँ तक पीछा करते-कब तक पीछा करते। उनकी ड्यूटी बदली, उनकी संख्या भी दुगनी हो गई—यहाँ तक कि एक-एक लड़के के पीछे एक-एक, किन्तु हमने निरुद्देश्य घूमना नहीं छोड़ा। शहर की सारी गलियाँ छान मारी। एक-एक बार नहीं, बीस-बीस बार, फिर भी हम बिना थके घूमते ही चले गये। और इस घूमा-घूमी में लेखक एक साथी को साथ लेकर—वेष बदलकर—हैदराबाद पहुँचा—बैरिस्टर विनायकराव जी से मिल आया और सारा शहर घूम आया और देख लिया कि कहाँ सुलतान बाज़ार है, कहाँ आर्यसमाज है, कहाँ थाना है, कहाँ-कहाँ पुलिस की चौकियाँ हैं-इत्यादि। आर्यसमाज में ताला लगा हुआ था। हरेक मुख्य-मुख्य सड़क के हरेक मोड़ पर संगीन-बन्द पुलिस की चौकियाँ पड़ी थीं, जहाँ से किसी भी संदिग्ध और अपरिचित आदमी का जाना ख़तरनाक था। और इस ख़तरे को हमने इतनी आसानी से पार कर लिया

मुझे श्री जियालाल जी द्वारा शुरू-शुरू में ही भेजा गया १८ सत्याग्रहियों का वह जत्था भी याद आता है जिसमें सब हट्टे-कट्टे नवयुवक थे और वे इस तैयारी के साथ आए थे कि यदि निजाम की जेल से जीवित न लौट सकें, तो न सही। जत्थे में दो-तीन नौजवान पक्के बीड़ीबाज भी थे। पर जिस दिन उन्होंने गुलबर्गा जेल में कदम रखा, उसी दिन से प्रण किया कि आगे से कभी बीड़ी को हाथ नहीं लगाएँगे और सचमुच ही जिस दृढ़ता से उन्होंने अपने व्रत का पालन किया, वह दृढ़ता बाद में आने वाले सत्याग्रहियों में नहीं दिखी। उनमें से एक तो इसी कारण बीमार पड़ गया, जेल के अस्पताल में भर्ती हुआ, उसका हृष्ट-पुष्ट शरीर सूखकर आधा रह गया, पर बीड़ी को हाथ नहीं लगाया, तो नहीं ही लगाया।

याद आते हैं कृष्णदत्त और गंगाराम जिन्होंने मन्दिर के शिखरस्थ कलश बनने का कभी प्रयत्न नहीं किया और हमेशा नींव के पत्थर की तरह गुमनाम और ओट में रह कर काम करने में ही अपनी सार्थकता समझी। इन्हीं दोनों हम-उम्र किशोरों ने ही तो दिल्ली से सिकन्दराबाद पहुँचने पर उस आतंक, भय और निराशा के वातावरण में गुप्त सन्देशवाहक का काम किया था और हमारे लिए हैदराबाद पहुँच कर सत्याग्रह करने की योजना को रूप दिया था।

इन्हीं के साथ एक और नींव का पत्थर याद आता है जिसका नाम है प्रकाश आर्य कलाकार, जिससे उस समय तो परिचय नहीं हुआ था, क्योंकि वह गुप्त और प्रच्छन्न कार्यकर्ता था, परन्तु बाद में जब परिचय हुआ तो मैं चकित रह गया कि यही वह व्यक्ति है जिसके लिए मैंने लिखा है—''न जाने वह कौन-सी चिड़िया थी जो एक दिन पहले ही घर-घर में यह खबर पहुँचा आई थी कि कल शाम को ५ बजे सुलतान बाजार के चौक में गुरुकुल काँगड़ी के ब्रह्मचारी सत्याग्रह करेंगे।'' वह चिड़िया यही थे।

फिर यह प्रकाश आर्य कलाकार कैसा छिपा रुस्तम और कैसे जीवट का आदमी निकला कि जेल में मरने वाले सत्याग्रहियों के शव येन केन प्रकारेण प्राप्त कर लेता और उनके वैदिक विधि से अन्त्येष्टि संस्कार की व्यवस्था करता। भगवान् जाने इस व्यक्ति ने कैसा और कितना बड़ा जाल फैलाया होगा कि रामचन्द्र राव वन्देमातरम् को जेल के अन्दर बेंतें लगने का सही फोटो इसने प्राप्त कर लिया जो सारे संसार में और किसी के पास मिलना सम्भव नहीं। सामाजिक क्रान्ति की दृष्टि से यह पहला व्यक्ति था जिसने ब्राह्मण होकर भी हरिजन कन्या से विवाह किया था। उसके बाद ऐसे अनेक आर्य युवक आगे आए।

बाद में इस व्यक्ति ने पेंटिंग को ही अपनी जीविका का आधार बनाया और उसमें भी निश्चय किया कि आर्य नेताओं और क्रान्तिकारी शहीदों के सिवाय और किसी के चित्र नहीं बनाऊँगा, चाहे कोई कितना ही पैसा दे।

याद आता है ठाकुर अमरसिंह जी का रौबीला चेहरा और उनकी बड़ी-बड़ी मूँछें। श्री शेषराव बाघमारे का शेर का-सा व्यक्तित्व और मुँह में हँसी के गोलगप्पे। श्री लक्ष्मीदत्त जी दीक्षित (बाद में स्वामी विद्यानन्द सरस्वती) का ज्ञान की गरिमा से मण्डित प्रवचन। याद आता है मुछन्दर निवर्ती रेड्डी का हम किशोरों के साथ कबड्डी खेलना। और खिलन्दड़ी स्वभाव का वह गोपालराव-जो बात बिना बात के जब देखो तब हँसता रहता। मुझसे भी ४-५ वर्ष छोटा अत्यन्त सौम्य स्वभाव का किशोर गोविन्दराव, जिसे न जाने क्यों मेरे ही सान्निध्य में अधिकतम सुरक्षा अनुभव होती और वह छाया की तरह मेरे साथ लगे रहने की निरन्तर चेष्टा करता रहता।

इस गोविन्दराव की कथा भी बड़ी विचित्र है। अच्छा खाते-पीते घर का लड़का। जेल में रहते हुए मेरे सान्निध्य के कारण उसमें जो संस्कार पड़े, शायद उसी का यह परिणाम था कि उसने जीवनभर कभी अन्याय के सामने झुकना नहीं सीखा। जेल से छूटने के बाद पढ़ने लाहौर गया। उपदेशक विद्यालय में भर्ती हुआ। पर उपदेशकी रास नहीं आई। लाहौर से चला आया। फिर मैट्रिक, इण्टर, बी० ए०, साहित्यरत्न, एम० ए० और अन्त में डाक्टरेट तक। घर से कभी सहायता नहीं ली। सब कुछ स्वयं अपने बलबूते पर। निरन्तर संघर्ष ही संघर्ष। अन्याय के सामने न झुकने के कारण जहाँ भी रहा, कहीं बन नहीं पाई। इसी संघर्ष में शादी-ब्याह की भी फुरसत नहीं मिली और निरन्तर आगे बढ़ने का प्रयत्न जारी रहा। पूरे चालीस वर्ष तक संघर्ष के पश्चात् नाव किनारे पर लगी-अभी वह आन्ध्रप्रदेश के एक कॉलेज में प्राध्यापक है। उस उम्र में आकर नाव किनारे लगी, जब और लोग रिटायर होकर अपने पुत्र-पौत्रों की नाव किनारे लगाने की फिक्र करते हैं। विधाता किसी के जीवन में कष्टों और संघर्षों की कैसी कड़ी परीक्षा खड़ी कर देते हैं। शायद अन्य कोई होता तो इतने संघर्षों के बाद टूट जाता। पर टूट जाता, तो जेल-जीवन व्यर्थ न हो जाता! कभी टूटना नहीं, कभी झुकना नहीं, कभी रुकना नहीं, यही तो कारावास की सार्थकता है। कवि के शब्दों में—

तू न रुकेगा कहीं,
तू न झुकेगा कहीं,
कर शपथ, कर शपथ, कर शपथ।
अग्निपथ, अग्निपथ, अग्निपथ॥

कभी कभी दो पद गा लेता;
यह अपनी पीड़ा से देता—
निज को और विधाता को भी कितना हृदय विदारक ताना!

सुन संगी, बन्दी का गाना!

(५)

हो चली है शाम!

आ गई छाया यहाँ तक
चार बज जाते जहाँ तक,
बस ज़रा सा काम कर लें और फिर विश्राम!
हो चली है शाम!

घूमता सा लग रहा सिर
औ' अँधेरा सा रहा घिर,
हूँ सुबह से कर न पाया दो मिनट आराम!
हो चली है शाम!
हो बुरा इन वार्डरों का
औ' सिपाही जेलरों का,
जान से प्यारा हमारी है इन्हें बस काम!
हो चली है शाम!

(६)

सुनसान कारागार!

खुल गई है नींद मेरी,
रात है काली अंधेरी,
शब्द कुछ होता नहीं आतंक यह साकार।
सुनसान कारागार!

वह सुनो, हैं बज गए दो,
यह गुंजाता-सा तिमिर को
तीव्र स्वर में कह उठा—'सब ठीक' पहरेदार।
सुनसान कारागार!

Vol - 2

१. अंग्रेजी के कफन की कील

प्रस्तावना

लोकतंत्र के समस्त सिद्धान्तों और मूल्यों की उपेक्षा करके भारत सरकार जिस प्रकार निर्लज्जता-पूर्वक राजभाषा (संशोधन) विधेयक को पास करके अंग्रेजी को अनन्त काल तक भारत की छाती पर मूंग दलने के लिए खुली छूट देने को कटिबद्ध है, वह समस्त राष्ट्रवादियों को चुनौती है। आज अंग्रेजी के समर्थक अंग्रेजी को बनाए रखने के लिए वही तर्क देते हैं जो कभी अंग्रेजों के समर्थन में दिये जाते थे। परन्तु राष्ट्र का स्वाभिमान चिरकाल तक इस अपमान को बर्दाश्त नहीं कर सकता। अंग्रेजी को हटाने के लिए हम फिर उन्हीं तर्कों को दुहराते हैं जो अंग्रेजों को हटाने के लिए हमारे राष्ट्र नेता चिरकाल से देते आए हैं। लाहौर में रावी के तट पर स्वाधीनता के जिस घोषणा पत्र द्वारा भारत के लिए पूर्ण स्वराज्य की मांग की गई थी उस घोषणा पत्र को हमारे नेता एक बार पुन: पढ़ें और देखें कि जो आरोप अंग्रेजों के राज्य के विरुद्ध थे वही आरोप आज अंग्रेजी के विरुद्ध सही बैठते हैं या नहीं।

जैसे अंग्रेज गए, वैसे अंग्रेजी भी इस देश से जाएगी ही। अब कितनी ही कृत्रिम प्राणवायु उसे चिरकाल तक जीवित नहीं रख सकती। उसका जो मुख्य आधार था - विदेशी शासन - वह ही नहीं रहा तो अंग्रेजी कैसे रहेगी? किन्तु अंग्रेजी का समर्थन करने वाले अपने मस्तक पर कलंक का इतना बड़ा टीका अवश्य थोप लेंगे कि हिन्द महासागर की अथाह जलराशि भी उसे धो नहीं सकेगी।

हिन्दी के पक्ष में तर्क देने का समय अब बीत चुका है। फिर भी हमने 'हिन्दी ही क्यों' में कुछ तर्क प्रधान लेखों का संकलन किया है। लेखों की योजना इस क्रम से रखी है कि प्रारम्भ में अहिन्दीभाषी राज्यों के एक-एक प्रतिनिधि का लेख दिया गया है फिर हिन्दी के सार्वदेशिक, लोकतांत्रिक और शिक्षा के माध्यम में समर्थ स्वरूप को उजागर करने वाले कुछ लेख हैं, और अंत में राजभाषा (संशोधन) विधेयक के विरोध में सरकारी अलंकरणों का परित्याग करने वाले कतिपय मनस्वियों के लेख हैं। यह संकलन केवल सामयिक आंदोलन की वस्तु न रहकर स्थायी महत्त्व की वस्तु भी सिद्ध हो, यह प्रयत्न किया गया है। अंग्रेजी के कफन में एक कील यह संकलन भी बन सके इससे अधिक और कोई आकांक्षा नहीं है।

२. स्वतंत्र भारत का संदेश संसार के नाम

14 अगस्त, सन् 1947 से दो-तीन दिन पहले की बात है। कलकत्ता में हुए भयंकर साम्प्रदायिक उपद्रव को शान्त करने के लिए महात्मा गांधी कलकत्ता गए हुए थे। 15 अगस्त मध्य रात्रि को 12 बजने के तुरन्त बाद भारत की स्वतंत्रता और ब्रिटिश सरकार द्वारा सत्ता-हस्तान्तरण की घोषणा पर अमल होना था। इस महान ऐतिहासिक अवसर पर बी.बी.सी. (ब्रिटिश ब्रॉडकास्टिंग कारपोरेशन) वाले संसार के नाम स्वतंत्र भारत का संदेश प्रसारित करना चाहते थे। इस संदेश के लिए भारत के प्रतीक के रूप में उन्होंने महात्मा गांधी को ही उपयुक्त व्यक्ति समझा और वे उनका संदेश रिकार्ड करने के लिए कलकत्ता पहुंच गए।

महात्मा गांधी का उस दिन मौन-व्रत था।

जब गांधी जी को पता लगा कि बी.बी.सी. वाले इस प्रयोजन से आए हैं, तो अपने मौन व्रत की रक्षा करते हुए उन्होंने बी.बी.सी. वालों को एक कागज के पुर्जे पर लिखकर दिया:

''संसार से कह दो कि गांधी अंग्रेजी नहीं जानता।'' क्या गांधी के रूप में स्वतंत्र भारत का संसार के लिए यही संदेश नहीं था?

(**'कलकत्ता का चमत्कार'** नामक पुस्तक से)

५. क्या हम राज्य-शास्त्र के अटल सिद्धांत को उलट देंगे?

- मोरारजी देसाई -

(जन्मना गुजराती-भाषी और भारत के उपप्रधानमंत्री)

शुरू में ही मैं यह कह देना चाहता हूं कि हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी भाषा भाषियों ने नहीं, अहिंदी भाषा भाषियों ने प्रस्तावित किया था। मोटे तौर पर दो नाम मेरे स्मरण में हैं - स्वामी दयानंद और महात्मा गांधी। दोनों ने ही हिंदी को राष्ट्रभाषा स्वीकार ही नहीं किया उसे हृदय से अपनाया और उसके जरिए सारे देश में जागरण का शंख फूंका। बंकिमचंद्र चटर्जी और श्रीनिवास शास्त्री ने उसका समर्थन किया था।

स्वामी दयानंद और महात्मा गांधी इस देश की जनता के दिल तक पहुंचना चाहते थे। शासक तो वे थे नहीं, जो सत्ता के जरिए जनता पर अपनी बात प्रकट कर देते। वह तो जनसेवक थे। प्रेम और सेवा के जरिए ही जनता को अपने कर्तव्य का बोध कराना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने ऐसी भाषा की खोज की जिसके द्वारा वे ज्यादा से ज्यादा लोगों के साथ संपर्क कायम कर सकें।

उन्होंने देखा कि देश में एक ऐसी भाषा प्रचलित है जिसके सहारे सदियों तक संतों ने देश के बहुत बड़े भाग में प्रेम, भक्ति और सेवा का प्रचार किया है। स्वभाव से दोनों महापुरुष संत थे। इसीलिए इस भाषा को खोजने और परखने में उन्हें ज्यादा कठिनाई नहीं हुई। यह भाषा हिंदी थी और किसी न किसी रूप में, काफी तादाद में, लोग इसे समझते थे।

अंग्रेजी की जड़ कहां है

करीब 50 बरस पहले ही गांधी जी ने हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का निर्णय कर लिया था। अंग्रेजी को यह दर्जा उन्होंने नहीं दिया था क्योंकि वह इस देश की भाषा नहीं है, उसकी जड़ें इस देश के निवासियों के संस्कारों में नहीं हैं। 100 साल की राजकीय सत्ता और एकछत्र निरंकुश शासन के द्वारा भी अंग्रेज जिसे डेढ़ से दो फीसदी से ज्यादा लोगों को नहीं सिखा पाए, उस अंग्रेजी भाषा को वे देश की राजभाषा या राष्ट्रभाषा मानने को तैयार नहीं थे।

अंग्रेजी से उन्हें बैर नहीं था, कोई विरोध नहीं था। किंतु वे यह कभी सहन करने को तैयार नहीं थे कि अंग्रेजी इस देश की भाषाओं का हक छीने। राजकाज में इस्तेमाल की दृष्टि से वे अंग्रेजी के मुकाबले देश की किसी भी प्रांतीय भाषा को श्रेष्ठ समझते थे, क्योंकि यह सभी भाषाएं स्थाई हैं और इनकी तुलना में अंग्रेजी को वे अंग्रेजी राज्य के साथ खत्म होने वाली भाषा मानते थे।

दरअसल अंग्रेजी राज्य के साथ वे अंग्रेजी भाषा की सत्ता भी समाप्त करना चाहते थे। स्वतंत्रता मिलते ही उन्होंने देश का ध्यान इस तरफ आकर्षित भी किया था। किंतु परिवर्तन के शोरगुल में उनकी आवाज को लोगों ने ठीक तरह नहीं सुना। आज जो कुछ राजभाषा को लेकर हो रहा है, वह इसी उपेक्षा का फल है।

कांग्रेस लोकप्रिय क्यों

गांधी जी तो हिंदी से कहीं अच्छी अंग्रेजी की योग्यता रखते थे। बड़ी प्रभावशाली अंग्रेजी लिखते थे। यहां तक कि अंग्रेज भी उनके अंग्रेजी पर असाधारण अधिकार पर चकित थे भारत की आजादी का आंदोलन वे अंग्रेजी में चला सकते थे। उनके द्वारा कांग्रेस का नेतृत्व संभालने से पहले वह अंग्रेजी में चलाया भी जाता था। लेकिन तब वह लोकव्यापी आंदोलन नहीं था, गिनती के अंग्रेजीदां लोगों का एक छोटा सा समूह मात्र था। गांधी जी ने उसकी इस कमजोरी को समझा और अंग्रेजी के बजाय जन भाषा में स्वतंत्रता का आंदोलन शुरू किया। इस भाषा-संबंधी परिवर्तन के फलस्वरूप गिनती के लोगों की कांग्रेस करोड़ों लोगों के विश्वास और संकल्पों को धारण करने वाली विश्व विख्यात कांग्रेस बन गई।

राजभाषा के सवाल को लेकर आज जो कोलाहल मचा हुआ है और जिसे अवसरवादी राजनीतिक हिंसा का अग्नि कुंड बनाने में व्यस्त हैं, उस संदर्भ में गांधीजी की यह भूमिका विशेष महत्व की है। जो अंग्रेजी भाषा स्वराज्य का आंदोलन चलाने के काबिल साबित नहीं हुई, वह अंग्रेजी भाषा स्वराज्य चलाने के काबिल कैसे हो सकती है – इस सवाल पर आज हम सबको मनन करना होगा।

इतिहास की चेतावनी

इस प्रसंग में इतिहास की चेतावनी भी हमें कान खोल कर सुननी होगी। यह हमारे आपके ही जीवन काल की घटना है। अपार शक्ति और साधनों वाला अंग्रेजी साम्राज्य भारत से इसीलिए लोप हो गया कि उसने अपना राज-काज लोक भाषा में नहीं, अपनी निजी भाषा में किया था।

भाषा-चुनाव की स्वतंत्रता अहिन्दी प्रांतों को मिलनी चाहिए, साथ ही केन्द्रीय प्रतियोगी परीक्षाओं के माध्यम का निर्णय भी अहिन्दी-नागरिकों पर छोड़ना ही उचित होगा, क्यों कि हिन्दी के विरोधी न बढ़ें, इस बात पर भी ध्यान रखना आवश्यक है।

प्रश्नः दक्षिण में हिन्दी-विरोध के सम्बन्ध में आप की क्या प्रतिक्रिया है?

दक्षिण द्वारा हिन्दी-विरोध मेरे लिए दुख का विषय है। यह बात कोई भी व्यक्ति समझ सकता है कि यहां हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है, जो सभी स्तरों के भारतीयों को आपसी विचारों के आदान-प्रदान की सुविधा प्रदान करती है। दक्षिण में जा कर अगर मैं विदेशी भाषा का प्रयोग करूं तो वह भारत का अपमान है और अगर भारतीय भाषा का ही प्रयोग करना चाहूं तो मुझे हिन्दी ही बोलनी पड़ेगी। सभी लोग ऐसा ही अनुभव करते हैं। वास्तव में हिन्दी ही इस देश की एकता की भाषा है, इस लिए हिन्दी का विरोध करना देश की एकता का ही विरोध करना है।

प्रश्नः भाषा-समस्या के प्रसंग में हिन्दी-विरोध और हिन्दी-समर्थन, यही दो पक्ष दिखते हैं। आप किस पक्ष को अधिक तीव्र, तार्किक और सक्रिय समझते हैं?

वस्तुतः हिन्दी के सम्बन्ध में ये दोनों ही स्थितियां भारत में हैं। तीव्रता, तार्किकता और सक्रियता का प्रसंग छोड़ भी दें तो भी मेरा अत्यधिक दृढ़ विश्वास है कि हिन्दी-विरोधियों में हिन्दी तथा देश के प्रति स्वाभिमान जगेगा और उन में सद्बुद्धि आएगी, यह निश्चित है। क्यों कि वे परिस्थिति को नहीं समझ पा रहे हैं। भारतीय परम्परा के विरुद्ध, एक विदेशी भाषा को यहां बनाए रखना असंभव है। इस में संदेह नहीं कि कुछ समय बाद हिन्दी का विरोध करने वाले लोग यहां नहीं रह जाएंगे।

प्रश्नः त्रिभाषा-फार्मूला के अंतर्गत क्या आप संस्कृत को रखने के पक्ष में हैं?

मेरी धारणा तो यह है कि संस्कृत के ज्ञान के आभाव में कोई भी व्यक्ति भारतीय दृष्टिकोण से सुशिक्षित नहीं हैं। संस्कृत नहीं जानने वाला भारतीय व्यक्ति अपनी परम्परा और संस्कृति का अध्ययन नहीं कर पाएगा, इस लिए ऐसा मार्ग प्रस्तुत करना उचित होगा, जिस से सभी भारतीय नागरिकों को संस्कृत पढ़ने का अवसर मिले। उच्चतर माध्यमिक स्तर पर संस्कृत को निश्चित रूप से पाठ्यक्रम में स्थान मिलना चाहिए। मैं यह अनिवार्य नहीं मानता कि इस

स्तर पर हर विद्यार्थी अंग्रेजी सीखे। संस्कृत को अनिवार्य विषय के रूप में स्वीकार करना अधिक सार्थक और स्वस्थ बात होगी और यह तभी संभव है, जब संस्कृत को भी त्रिभाषा-फार्मूले के अंतर्गत स्थान मिले।

प्रश्नः एक ओर जहां हिन्दी-समर्थन का क्षेत्र व्यापक हो रहा है, वहां दूसरी ओर हिन्दी की नई पीढ़ी का साहित्यकार विदेशी तथा विशेष कर अंग्रेजी-साहित्य से बुरी तरह प्रभावित होता जा रहा है और प्रभावित होना ही बौद्धिकता की बात समझता है। क्या यह स्थिति हिन्दी के हित में मानी जा सकती है?

मेरे विचार से अंग्रेजी-माध्यम द्वारा उच्चशिक्षा मिलने के कारण समस्त भारत पर अंधानुकरण और मानसिक पंगुपन छाता जा रहा है। मैं मानता हूं, कि सारी दुनिया आज कल छोटी होती जा रही है और आदान-प्रदान के अवसर भी पर्याप्त बढ़ गए हैं। यह होना भी चाहिए। मैं इस के औचित्य पर संदेह नहीं करता, परन्तु भारत में अनुकरण की ही प्रधानता हो चली है। आज का नया हिन्दी-साहित्यकार अनुकरण से अपने को मुक्त नहीं कर पा रहा है। हिन्दी-साहित्यिक परम्परा के अनुकूल एजरा पाउण्ड के बिम्बवाद को स्वीकार किया जा सकता है या नहीं, इस पर विचार किए बिना ही उस की नकल करते जाना सरासर गलत है। आवश्यकता इस बात की है कि अंग्रेजी-साहित्य की ग्राह्य बातों को आत्मसात् करने के पश्चात् भारतीय बुद्धि और प्रतिभा के द्वारा उस को मौलिक रूप प्रदान करें।

प्रश्नः आप की समझ से किस भारतीय भाषा का सर्वाधिक प्रचार विदेशों में हुआ है?

निश्चित रूप से हिन्दी का ही। विदेशों के अनेकानेक विश्व-विद्यालयों में हिन्दी भाषा के अध्यापन की व्यवस्था है। फलस्वरूप फ्रांस, अमेरिका, जर्मनी तथा रूस आदि सभी महत्वपूर्ण देशों में हिन्दी का प्रचार हुआ है। मेरा अनुभव यह है कि भारत के भाषागत विवाद के बावजूद विदेशी विश्वविद्यालयों में भारत की भाषा के रूप में सर्वप्रथम हिन्दी भाषा को ही जाना-माना जाता है। कहीं-कहीं अन्य भारतीय भाषाएं भी मिलती है, परन्तु हिन्दी का स्थान सर्वोपरि है।

प्रश्नः हिन्दी-विरोध, अंग्रेजी की महत्वपूर्ण स्थिति, सरकारी नीति की अनिश्चितता तथा अस्पष्टता के बावजूद क्या भविष्य में हिन्दी-भाषा के समुचित विकास और प्रचार में आप विश्वास रखते है?

पूरा सम्मान नहीं दिखाई देता, तो फिर अपने घर में उपेक्षित भाषा का दूसरे के घर में सम्मान कैसे होगा।''

यदि सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश में हिन्दी में ही कार्य हो, तो दक्षिण भारतीय हिन्दी सीख कर ही उत्तर प्रदेश में आएं। अब वह इसलिए चिन्ता नहीं करता कि उस का काम अंग्रेजी से चल जाता है। और एक बात सोचने की यह है कि भाषा की सर्वांग उन्नति केवल साहित्य की रचना से नहीं होती, जीवन को स्पर्श करने वाले अन्य साहित्यांगों की मौलिक सृष्टि ही किसी भाषा को पूर्ण बनाती है। सामाजिक विज्ञान, भूगोल, विज्ञान, इतिहास तथा अन्य शास्त्रों की मौलिक सृष्टि ही हिन्दी को रूसी, अंग्रेजी और फ्रांसीसी भाषाओं के समकक्ष कर सकती है। हिन्दी वालों को हल्ला मचाना छोड़ कर चिन्तन की इन हजारों विधाओं के प्रति सोचना चाहिए।

प्रश्न: ''क्या मद्रास में द्रविड़ मुनेत्र कषगम की विजय से हिन्दी के प्रचार में बहुत अवरोध आने की सम्भावना है? क्या यह सम्भव नहीं कि अपनी घोषित नीति के कारण कषगम मद्रास में हिन्दी-प्रचार के कार्य को रोक दें?''

प्रश्न सुन कर चन्द्रहासन जी की मुख-मुद्रा और भी गम्भीर हो गई और वे कुछ सोचते हुए बोले - ''राजनीतिक परिवर्तन से उत्पन्न दक्षिण भारत की नई परिस्थितियों में और विशेष रूप से द्रविड़ मुनेत्र कषगम के आने से हिन्दी के समर्थकों को हिन्दी-प्रचार में शायद कड़े संघर्ष का सामना करना पड़ेगा, किन्तु इस में घबराने की आवश्यकता नहीं, अपितु स्थिति की नजाकत समझ कर और भी अधिक धैर्य से कार्य करने की जरूरत है।

''मेरा विचार है कि कषगम वाले भी शेष भारत की भावना को समझ कर हिन्दी-विरोधी नीति का त्याग करने पर विवश होंगे और ऐसा भी मैं मानता हूं कि वे अंदर ही अंदर हिन्दी सीख रहे हैं। लेकिन अब वहां पर हिन्दी प्रचार के साधनों में सांस्कृतिक साधन अधिक होने चाहिए, जिस से राजनीति के चक्र से दूर संस्कृति के स्तर पर मेल-मिलाप हो; क्यों कि भाषा का अध्ययन मनुष्य के सांस्कृतिक विकास के अन्तर्गत आता है, इसलिए भाषा के प्रचार व प्रसार के कार्यक्रम में सांस्कृतिक योजनाओं का महत्व है।''

११. राष्ट्रीय एकता का प्रतीक - हिन्दी

- दयाराम बेरी -

(बंगाल विधानसभा में दिए गए एक भाषण का सारांश)

आज भारत में एकता की जितनी आवश्यकता है, उतनी किसी भी चीज की नहीं। यदि हमें देश की रक्षा करनी है, देश को गौरवशाली बनाना है, तो यह आवश्यक है कि साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयता दूर करें और एक भारत की कल्पना करें। भारत की जो 14 भाषाएं हैं, ये सभी हमारी भाषाएं हैं। हमने इन सभी को राष्ट्रभाषा माना है। ये भाषाएं एक-एक प्रान्त की भाषाएं हैं। हिन्दी को राष्ट्रभाषा क्यों माना गया है, इसका भी एक कारण है। जिस तरह विधान सभा में बहुत से विधायक चुनकर आते हैं, परन्तु मुख्य मंत्री एक ही होता है, विधान सभा का अध्यक्ष भी एक ही होता है, उसी तरह भारत की समस्त भाषाओं में मुख्य हिन्दी है और उसे हम लोगों ने राष्ट्रभाषा माना है।

भारत की सभी भाषाएं हमारी पूज्य हैं। किसी भी भाषा के प्रति हमारा कोई द्वेष नहीं है। हमारे प्रधानमंत्री ने लोकसभा में यह निर्णय लिया है कि हिन्दी ही राष्ट्रभाषा पद पर आसीन है, साथ-ही-साथ यह भी कहा गया है कि जब तक अहिन्दी भाषा-भाषी हिन्दी अच्छी तरह समझ न लें, तब तक उन पर हिन्दी जबरदस्ती न लादी जाय।

यह प्रश्न नया नहीं है। यह अच्छी तरह पहले ही कहा गया है कि जो लोग हिन्दी की अच्छी योग्यता न रखते हों, वे अंग्रेजी में उत्तर दे सकते हैं। ऐसी स्थिति में हिंसा क्यों हो रही है, समझ में नहीं आता। लोग कहते हैं कि हिन्दी बोलनेवाले और समझनेवाले ज्यादा हैं, महज इस बात पर झगड़ा किया जाय और झगड़े की बातें हों, यह उचित नहीं है। आज जिस हिन्दी का निर्माण हुआ है उसमें बंगाली, पंजाबी, मद्रासी, गुजराती आदि सभी प्रदेश के लोगों का योग है। बिहार में कैथी अक्षर चलता था, बंगाल में श्रीभूदेव मुखोपाध्याय ने देवनागरी अक्षर स्कूलों में शुरू किया था। श्री अनुकूल चक्रवर्ती ने जीवन भर हिन्दी की सेवा की। हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए राजा राममोहन राय ने बहुत महत्वपूर्ण कार्य किये। पहले जहां अंग्रेजी का अधिवेशन होता था, वहां राष्ट्रभाषा सम्मेलन भी हुआ करता था। 1917 ई. में एनीबेसेन्ट की अध्यक्षता

एक हौवा खड़ा किया गया साम्प्रदायिकता के सहारे उर्दू का। अंग्रेजी को हटाने की मांग करने वाले उर्दू को, और इस तरह मुसलमानों की सांस्कृतिक परम्परा को खत्म करना चाहते हैं। दिलचस्प बात यह है कि सर सैयद अहमद से मुहम्मदअली जिन्ना तक आने के बाद जब पाकिस्तान बन गया, तो भारत में इस प्रवृत्ति की विरासत संभाली साम्यवादी दल के साहित्यिक-सांस्कृतिक प्रवक्ता सज्जाद जहीर ने!

दूसरा हौवा खड़ा किया गया कि अगर सारे देश की एक भाषा नहीं होगी, अगर उर्दू को कोई जगह मिली, या अन्य भारतीय भाषाओं को प्रतिष्ठा दी गयी, तो देश की सांस्कृतिक राजनीतिक एकता नष्ट हो जायेगी। इसके साथ जोड़ दी गयी एकात्म शासन की मांग - प्रदेश खत्म हों, एक ही शासकीय इकाई हो, केन्द्र। एक ही भाषा हो, हिन्दी। हिन्दी चूंकि नहीं हो सकती, इसलिए जब तक नहीं हो सकती, तब तक अंग्रेजी चलती रहे।

तीसरा हौवा खड़ा किया गया-देश के सांस्कृतिक-साहित्यिक नेता हैं बंगाल और मद्रास। (वहीं तो अंग्रेज सबसे पहले आये थे!) हिन्दी तो बिल्कुल बेकार, अविकसित, गंवारी भाषा है। उसे राष्ट्रभाषा कैसे स्वीकार किया जा सकता है। सभ्य, सुसंस्कृत लोगों की भाषा है अंग्रेजी, विज्ञान की भाषा है अंग्रेजी, अन्तरराष्ट्रीय भाषा है अंग्रेजी, इसलिए अंग्रेजी ही रहे। या फिर, किसी भाषा के साथ अन्याय न हो, इसलिए सभी भाषाएं केन्द्र की राजभाषाएं हों। लेकिन इसमें समय लगेगा, बहुत समय लगेगा। इसलिए फिलहाल अंग्रेजी चलती रहे।

पचास साल पहले ही भाषा का सवाल इन चार रूपों में सामने आ गया था-दरअसल तो आमना सामना दो ही प्रवृत्तियों में था, लेकिन अंग्रेजी ने अपने समर्थन में तीन शिखण्डी खड़े कर लिए थे। मूल टकराव था, अंग्रेजी बनाम लोकभाषाएं; नकली झगड़े थे, अंग्रेजी बनाम हिन्दी; हिन्दी बनाम अन्य भारतीय भाषाएं; हिन्दी बनाम उर्दू। पचास बरस बाद भी वही सवाल खड़े हैं। वही बहसें हैं, जो किसी नतीजे पर नहीं पहुंचतीं। और बुनियादी नतीजा एक ही है-अंग्रेजी अपनी जगह कायम है। यही सामन्ती प्रवृत्ति संसद के वर्तमान सत्र में एक ऐसा विधेयक लाई है, जिसके अन्तर्गत अंग्रेजी को उसकी मौजूदा जगह से हटाना वर्तमान संवैधानिक व्यवस्था में लगभग असम्भव हो जायेगा।

लोकतन्त्र में फैसले बहुमत से होते हैं। बड़े, या गम्भीर संवैधानिक महत्व के फैसलों के लिए कभी-कभी विशेष बहुमत (आमतौर पर दो-तिहाई) की व्यवस्था की जाती है। लोकतन्त्र में कभी किसी प्रश्न पर एकमत की मांग नही

की जाती, क्योंकि खुले स्वतन्त्र समाज में किसी भी प्रश्न पर एकमत शायद ही कभी होता है, किसी गम्भीर राष्ट्रीय संकट के समय। लेकिन अब यह व्यवस्था करने का प्रस्ताव है कि अंग्रेजी आज जहां इस्तेमाल हो रही है, वहां से उसको हटाने के लिए, सभी प्रदेशों की सहमति अनिवार्य होगी - किसी एक जगह से हटाने के लिए भी। यानी अगर कहीं भी अंग्रेजी की जगह किसी भारतीय भाषा को लाने का सुझाव हो, तो कुछ लाख की आबादीवाला नागालैण्ड अपनी असहमति से उसको रद्द कर सकता है, और सारे देश को उसके पीछे चलना पड़ेगा।

दिल्ली में एक नाटक

दिल्ली में पिछले दिनों एक और भी नाटक हुआ, जो अगर इतना दुष्टतापूर्ण न होता, तो मैं उसे प्रहसन कहता। शिक्षा के सम्बन्ध में कई समितियों की बैठकें हुईं, सम्मेलन हुए। पहले कहा गया कि विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषाएं हों। न हिन्दी अनिवार्य रहे, न अंग्रेजी। लोकभाषाओं के कुछ समर्थक काफी खुश भी हुए। लेकिन देखते-देखते सारे तर्क उलट गये। हिन्दी अनिवार्य होनी चाहिए, इसलिए अंग्रेजी अनिवार्य रहे। शिक्षा के माध्यम को बदलने में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। देश की एकता के हित में एक ही भाषा रहनी चाहिए, और वर्तमान परिस्थितियों में वह अंग्रेजी ही हो सकती है।

विधेयक के सन्दर्भ में इस सारी बहस को देखिए, तो स्पष्ट हो जायेगा, कि सारी बहस महज लोगों को भुलावे में डालने वाला नाटक है, क्योंकि उक्त विधेयक के स्वीकृत हो जाने के बाद फिर अंग्रेजी को किसी भी जगह से रत्ती भर भी हिलाना असम्भव हो जायेगा।

पचास साल बाद भी हम वहीं के वहीं हैं, और अब कोशिश यह है कि आगे पचास साल बाद भी वही हालत रहे, और उसके पचास साल बाद भी!

यह बात अब बिल्कुल साफ है कि भाषा का मामला शुद्ध रूप में राजनीति का मामला है - सामन्ती भाषा और सामन्ती राजनीति बनाम लोकभाषा और लोक-राजनीति का। आज अगर सामन्ती भाषा की सामयिक विजय होती दिखायी दे रही है तो इसलिए कि लोकराजनीति दुर्बल है। सामन्ती राजनीति अपनी शक्ति कायम रखने और बढ़ाने के लिए लोकभाषाओं को दबाने में जरा भी शर्म नहीं करती, भले ही इससे लोकतन्त्र और राष्ट्रीय एकता दोनों ही खतरे में पड़ जायें।

देशों ने अपनी-अपनी बस्तियां बसाई थीं। उन बस्तियों में जिस देश का प्रभाव तथा अधिकार था, उसी की भाषा भी चलती थी - फ्रेंच, पोर्चुगीज, अंग्रेजी, जर्मन, डच इत्यादि भाषाओं का इन बस्तियों और इनके शिक्षणालयों में प्राधान्य था, और इसी के अनुसार चीनी विद्वान भी इनमें से किसी एक या दो भाषाओं के माध्यम से अध्ययन-अध्यापन का कार्य करते थे। क्रान्ति के तुरन्त बाद यह हुक्म हुआ कि शिक्षा का माध्यम बदल दिया जाये, तथा सब पठन-पाठन चीनी भाषा में हो। एक सर्वदेशीय आयोग बिठाया गया, जो पारिभाषिक शब्दों का चीनी भाषा में अनुवाद करे, जिससे चीनी की पाठ्य पुस्तकें तैयार की जा सकें।

हमें वाइस चान्सलर महोदय ने बताया कि सभी विश्वविद्यालयों ने इस आदेश का घोर विरोध किया। शिक्षा शास्त्रियों ने कहा, इससे शिक्षा के मानदण्ड नीचे गिर जायेंगे - चीन आधुनिक विद्या, विज्ञान में पिछड़ जायेगा - संसार से वह कटकर रह जायेगा। फिर तुरन्त किस प्रकार चीनी विद्वान चीनी भाषा में अध्यापन कार्य में कौशल प्राप्त कर सकते हैं, उन्हें इसके लिए समय चाहिए। परन्तु चीन की क्रान्तिकारी सरकार ने एक भी दलील न सुनी और अपने आदेशों में परिवर्तन करने से साफ इन्कार कर दिया। वाइस चान्सलर महोदय ने हमें बतलाया, प्रारम्भ में अध्यापकों को पहाड़-सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। वे लोग अपने क्लास-लेक्चर पहले अपनी जानी हुई विदेशी भाषा में लिखते, फिर उनका चीनी में अनुवाद करके उसे क्लास में पढ़ देते, अनुवाद करने में अक्सर उन्हें दूसरों की सहायता लेनी पड़ती-भूलें भी होतीं, समय का अपव्यय भी होता। परन्तु विद्यार्थियों की दिलचस्पी बढ़ गयी-कई बार विषय का भली भांति चीनी भाषा में विवेचन न कर सकने के कारण विद्यार्थियों के बीच अध्यापकों का उपहास भी होता। परन्तु थोड़े ही समय में उनका अभ्यास बढ़ गया। धीरे-धीरे उन्हें विश्वास होता गया कि वे अपनी मातृभाषा में विषय का ज्यादा अच्छा प्रतिपादन कर सकते हैं। मुश्किल से कुछ ही महीनों में वे पहले से भी अधिक भरोसे के साथ विद्यार्थियों के समक्ष कठिन-से-कठिन विषय को प्रस्तुत करने योग्य हो गये। विद्यार्थियों का ज्ञान और विषय की पकड़ पहले से अच्छी हो गयी, और चीनी विश्वविद्यालयों में मातृभाषा सम्पूर्ण शिक्षा का माध्यम बन गयी। हमें उस समय बतलाया गया कि परिभाषाओं का अनुवाद करने वाले आयोग ने लगभग 75 प्रतिशत वैज्ञानिक परिभाषाओं की चीनी समानार्थक परिभाषाएं खोज ली हैं, और बाकी कार्य भी एकाध वर्ष में-अवधि से बहुत पहले समाप्त होने वाला है।

हम सभी ने अपने आपसे प्रश्न किया-क्या भारत में भी ऐसा सम्भव नहीं? सम्भवत: यदि विधान लागू करने के तुरन्त बाद हम समझदारी के साथ शिक्षा का माध्यम बदलने का प्रयत्न करते, यदि हम उसी समय एक ही साथ यह घोषणा करते कि सब कार्य प्रदेशों की क्षेत्रीय भाषाओं में होंगे, और राष्ट्रीय कार्य हिन्दी में - अर्थात् हिन्दी के साथ-ही-साथ क्षेत्रीय भाषाओं को भी आश्वासन मिलता, तो हिन्दी का विरोध न होता, सभी हिन्दी को सार्वदेशिक कार्यों के लिए अपना लेते। परन्तु विधान में 15 वर्ष की अवधि नियत करके हमने समझ लिया कि 15 साल के लिए मुसीबत टली, बाद में देखा जायेगा। 1954 तक चीन के इंजीनियररिंग कॉलेज में द्वितीय वर्ष तक की पढ़ाई चीनी भाषा की पाठ्य पुस्तकों द्वारा होने लग गयी थी-नयी पाठ्य पुस्तकें धड़ाधड़ तैयार होकर बाजार में आ रही थीं। 'आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है।'

चीन से लौटकर हमने यह सब वृत्तान्त जब स्वर्गीय प्रधानमंत्री जवाहरलाल जी से बतलाया, तो उन्होंने गहरी सांस लेते हुए कहा-"काश कि हम ऐसा यहां भी कर सकते।"

प्राय: यह दलील दी जाती है कि अहिन्दीभाषी प्रदेशों के लोग चाहते हैं कि अंग्रेजी को अभी न हटाया जाये। स्वर्गीय जवाहरलाल जी ने अहिन्दी भाषी लोगों को यह आश्वासन दिया था कि वे जब तक न चाहेंगे अंग्रेजी नहीं हटायी जायेगी, परन्तु प्रश्न यह है कि अहिन्दीभाषी अल्पसंख्यक लोग चाहते क्या हैं? वे मांगते क्या हैं, और हम देते क्या हैं?

1964 की बात है। मुझे एक सरकारी आयोग के अध्यक्ष के रूप में सारे देश का भ्रमण करने का अवसर प्राप्त हुआ। हम यह मालूम कर रहे थे कि सूचना तथा प्रसारण मंत्रालय विविध प्रचार माध्यमों के द्वारा जनता के शिक्षण-प्रशिक्षण का जो कार्य करता है, उसका सामान्य जनों पर वास्तव में कितना प्रभाव पड़ा है। हम लोग मद्रास के तमिल भाषा-भाषी गांवों में गये, जहां हिन्दी के विरोध में प्राय: भाषण होते रहते थे। हम लोग लोगों से अंग्रेजी के माध्यम से वार्तालाप करते थे, परन्तु ग्राम के लोगों को सब बात दुभाषिये के द्वारा तमिल में समझायी जाती थी।

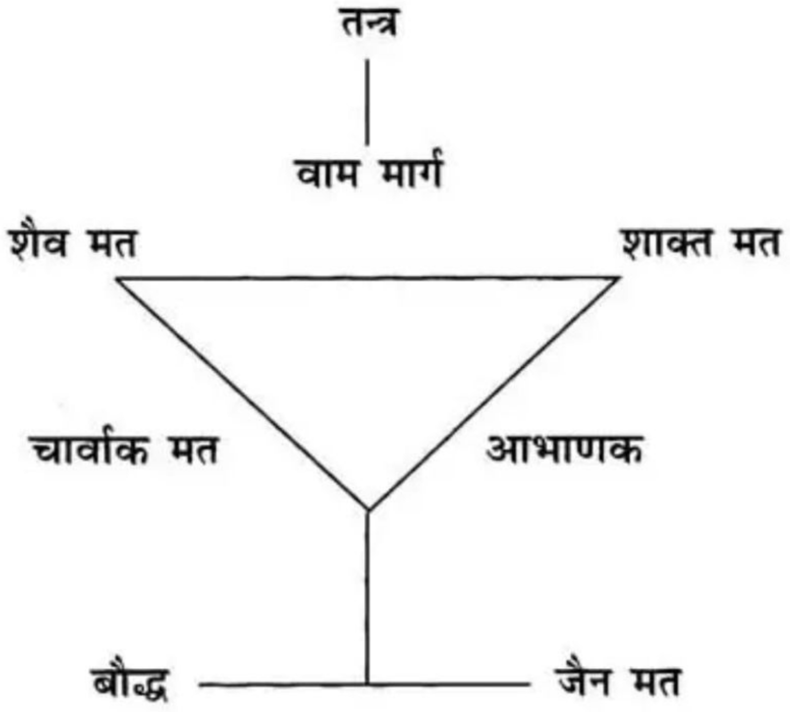
एक स्थान पर एक बड़े भरे जलसे में मैंने कह दिया- "देखिए, सरकार ने आपकी बात रखते हुए, और आपकी भावनाओं का खयाल करते हुए, इस बात को स्वीकार कर लिया है कि अंग्रेजी का चलन तब तक रहे, जब तक आप ऐसा चाहें।" मेरे भाषण का तमिल में अनुवाद करने वाले ने जब लोगों से ऐसा कहा, तो जलसे में एक साथ पन्द्रह-बीस तमिलभाषी उठ खड़े

Vol - 3

ऋषि दयानन्द के आने से पहले

ऋषि दयानन्द के आने से पहले भारत की स्थिति क्या थी, इस पर विचार करते समय सुदीर्घ इतिहास को दो खण्डों में बाँट सकते हैं- एक खण्ड वैदिक काल और दूसरा खण्ड अवैदिक काल। सामान्य दृष्टि से महाभारत से पूर्व के समय को हम वैदिक काल और उसके परवर्ती समय को अवैदिक काल कह सकते हैं। अवैदिक काल में किस प्रकार तन्त्र, वाम मार्ग, शैव, शाक्त, चार्वाक, आभाणक, बौद्ध व जैन आदि मतों की स्थापना हुई, इसका लम्बा इतिहास है।

वेद से विहीन होने के पश्चात् ही तन्त्र आदि मतों का प्रचलन हुआ। उसके बाद चार्वाकों ने जिस प्रकार वेद-विरोधी मत का प्रचार किया, उसके मूल में मुख्य कारण था ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रक्षिप्त वचन और महीधर आदि की वेदों का दूषित अर्थ करने की परम्परा। जब वेद के नाम पर यज्ञों में पशु-हिंसा के वीभत्स दृश्य उपस्थित होने लगे, तब इस उग्र हिंसा की प्रतिक्रिया बौद्ध और जैन मतों की अति-वादी अहिंसा के रूप में प्रकट होनी स्वाभाविक ही थी। संक्षेप में उसका चित्र यों बना सकते हैं-



परन्तु मौर्य साम्राज्य के क्षय के साथ भारत में बौद्ध धर्म का ह्रास प्रारम्भ हुआ; और पाटलिपुत्र के अन्तिम मौर्य-नरेश को मारकर शुंग वंश का राजा पुष्यमित्र सिंहासन पर बैठा। उसे अपने साम्राज्य का विस्तार करने में उस युग के धार्मिक विद्रोह ने भी काफी सहायता दी। उसने बौद्ध युग में आई वैदिक धर्म की विकृतियों को हटाकर बौद्धों से पहले की स्थिति को वापस लाने का प्रयत्न किया। पुष्यमित्र के समय बौद्ध धर्म के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई, उसने वैदिक धर्म पर अपनी स्थिर छाप छोड़ी; और बौद्ध धर्म धीरे-धीरे भारत से विलुप्त होने लगा। यद्यपि पुष्यमित्र के काल से वैदिक धर्म जिस रूप में आने लगा वह प्राचीन वैदिक धर्म से बहुत कुछ भिन्न था, परन्तु गुप्त साम्राज्य के अन्त तक, 550 ईसवी तक, हमें उसी धर्म का प्राधान्य मिलता है।

इस युग में विभिन्न भारतीय मतों में पारस्परिक संघर्ष और सहयोग, दोनों की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। भारतीयों की जिस सहिष्णुता और धार्मिक उदारता की चर्चा की जाती है, वह बहुत-कुछ इसी युग की देन है। इसी सहयोग का परिणाम था कि बौद्ध धर्म के वेद-विरोधी होते हुए भी पुराणों में महात्मा बुद्ध को विष्णु के दस अवतारों में गिना गया। धीरे-धीरे बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म के मिश्रण से नई शाखा चल पड़ी जिसका नाम महायान पड़ा। नालन्दा तथा विक्रमशिला आदि विख्यात विद्यापीठ इसके गढ़ बने। इसी उदारता का परिणाम था कि विचार-भेद होते हुए भी, धर्म के नाम पर अत्याचार इस देश में नहीं हुए। परन्तु साथ ही यह भी कहना पड़ेगा कि इसी उदारता ने भारतवर्ष के धर्म को खिचड़ी-धर्म बना दिया। जो उदारता एक गुण थी, वही एक दोष भी बन गई। विशुद्ध वैदिक धर्म इधर-उधर की मिलावट के कारण एक खासा अजायबघर बन गया। राजा हर्ष (606 ईसवी) के राजकाल में इस खिचड़ी धर्म का अच्छा अभिनय दिखाई देता है। श्रद्धालु राजा एक दिन शिव की पूजा करता है, दूसरे दिन सूर्य को अर्घ्य देता है; और तीसरे दिन महात्मा बुद्ध की मूर्ति के आगे सिर झुकाता है।

इसके बाद इस खिचड़ी धर्म को शुद्ध करने का प्रयत्न शंकराचार्य ने किया। उनके दार्शनिक सिद्धान्तों ने बौद्धों के नास्तिक रूप को उजागर करके एकेश्वरवाद की तो स्थापना की, परन्तु आचार्य के अद्वैतवाद ने दुनिया की व्यावहारिकता को भुला दिया। परिणामस्वरूप उनका विशुद्ध धर्म पण्डित-मण्डली के लिए ही रह गया; और आम जनता के व्यवहार में नहीं उतर पाया।

इसके बाद रामानुजाचार्य ने अद्वैत या वेदान्त की इस एकांगिता को दूर करके उसे कुछ अधिक व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न किया; और उससे भिन्न-भिन्न

अग्रतश्चतुरो वेदान् पृष्ठतः सशरं धनुः।
इदं शास्त्रमिदं शस्त्रं शापादपि शरादपि॥

–आगे-आगे चारों वेद और पीठ के पीछे बाणों से भरा तरकश तथा धनुष। पहले शस्त्र, फिर शास्त्र। जो समझाने से भी, अहिंसात्मक शान्तिपूर्ण उपायों से भी ठीक रास्ते पर नहीं आता, उसके लिए शर-सन्धान आवश्यक है।

तुलसी-रामायण के अनुसार, जब मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम तीन दिन तक समुद्र से अनुनय-विनय करते रहे और समुद्र रास्ता देने को तैयार नहीं हुआ, तब शरीरधारी धर्म के उस अवतार ने भी अपने क्षात्र धर्म की मर्यादा का पालन करते हुए कहा–

विनय न मानत जलधि जड़, गए तीन दिन बीत।
लक्ष्मण बाण सँभालेहु, भय बिन होय न प्रीत॥

अहिंसा को चरम-परम कहकर अपवाद-शून्य बना देने वाले लोग किसी 'मूर्खों के स्वर्ग' में रहते हैं। जब तक संसार में रावण, कंस, दुर्योधन और शिशुपाल रहेंगे, तब तक अहिंसा को अपवाद-शून्य नहीं बनाया जा सकता, न ही राम और कृष्ण के जीवन की संगति लगाई जा सकती है। कश्मीर पर पाकिस्तानी आक्रमण के समय स्वयं 'अहिंसा के देवता' महात्मा गांधी ने सशस्त्र सेना भेजने का समर्थन किया था; और राष्ट्र-नायक श्री जवाहरलाल नेहरू ने चीनी आक्रमण के समय अपनी गलती महसूस की थी। सच तो यह है कि चीनियों के इस विश्वासघात ने ही उनकी जान ली।

क्रान्तिकारी: निष्काम कर्मयोगी

यह सही है कि भारत को स्वतन्त्र कराने में महात्मा गांधी द्वारा चलाए गए और कांग्रेस द्वारा अपनाए गए अहिंसात्मक सत्याग्रहों का बहुत बड़ा योग है, पर क्रान्तिकारियों की भूमिका को और उसी की एक शाखा के रूप में 'आजाद हिन्द फौज' के कर्तृत्व को नकारना भयंकर भूल है।* आज तक यह भूल होती रही- शायद जानबूझकर – इस खयाल से कि कहीं सत्ता में वे भी

---

*पंडित क्षितीश जी अपने बाल्यकाल से ही गांधी जी के सत्याग्रह से प्रभावित रहे थे। इसीलिए ऊपर अहिंसा की सटीक व्याख्या करते हुए उनकी मुस्लिम-पक्षपात से प्रेरित, और केवल हिन्दुओं को उपदेश देने वाली एकांगी अहिंसा की आलोचना करने से बचे हैं। इसी प्रकार, इस सत्य को कि, "नेताजी के सैन्य-संगठन के प्रति बढ़ते जन-समर्थन ने ही अंग्रेजों को भारत छोड़ने के लिए बाध्य किया था।" वे कहने से बचे, अथवा रेखांकित नहीं कर पाए। (**सम्पादक**)

भाग न माँगने लग जाएँ। पर सत्ता का भोग क्रान्तिकारियों के दर्शन के ही विरुद्ध है। केवल त्याग और बलिदान–सो भी सर्वथा निस्स्वार्थ–यही क्रान्ति-दर्शन का मूल मंत्र है। एक तरह से कहा जा सकता है कि आधुनिक राजनैतिक नेता 'सकाम कर्मयोगी' भले ही बखाने जाएँ, पर गीता के 'निष्काम कर्मयोगी' तो केवल क्रान्तिकारी हैं।

निष्काम कर्मयोग की यही परम्परा आर्यसमाज को अपने प्रवर्तक ऋषिवर दयानन्द से विरासत में मिली है।

ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के धार्मिक तथा सामाजिक सुधार वाले रूप पर ही आज तक अधिक जोर दिया गया है, इस सीमा तक कि इनका राजनैतिक क्रान्तिकारी रूप अक्सर आँखों से ओझल रह गया है। इस राजनैतिक रूप को ओझल बनाए रखने में दो हेतु सबसे प्रमुख हैं। एक तो यह कि राजनीति के मंच पर अब तक इतने अधिक अवसरवादी गिरगिटिये 'सकाम कर्मयोगियों' का बोल-बाला रहा है कि वे मंच पर अपने सिवाय किसी और को आने देना चाहते ही नहीं थे। दूसरा हेतु यह रहा है कि स्वयं आर्यसमाज में एक ऐसी बुजुर्ग पीढ़ी रही है जो संध्या-हवन के चौखटे के बाहर कभी आर्यसमाज को निकलने नहीं देना चाहती। ब्रिटिश शासन-काल में जो आर्यसमाजी सरकारी सेवा में थे, आर्यसमाज का राजनीति-विरहित केवल धार्मिक रूप उन्हें रास आता था; और इससे उनके निजी स्वार्थ भी सुरक्षित रहते थे। इसके अलावा जो सम्पन्न, धनाढ्य और अभिजात वर्ग के लोग थे, जिनका अधिकतर सभाओं और आर्यसमाज के संगठनों तथा शिक्षा- संस्थाओं पर आधिपत्य था, उनको भी शोषण-मुक्त समतावादी समाज का नारा अखरता था, क्योंकि आर्यसमाज के इस क्रान्ति-धर्मी रूप से निहित स्वार्थों के सिंहासन चलायमान होते थे। कुछ ऐसे सुविधाभोगी बुद्धिजीवी भी रहे हैं जो आर्य-समाज के जनवादी और आन्दोलनकारी रूप से बिदकते हैं, क्योंकि इससे उन्हें बाढ़ की भीषण जलधारा में स्वयं विलुप्त हो जाने का डर लगता रहा है।

और तो और, अब भी आर्यसमाजियों का एक बहुत बड़ा प्रतिष्ठित वर्ग ऐसा है, जिसके गले में न तो ऋषि दयानन्द द्वारा सन् 1857 की राज्य-क्रान्ति में भाग लेने की बात उतरती है, न ही उस वर्ग को क्रान्तिकारियों से कोई सहानुभूति है। ब्रिटिश-काल की दासता का और 'रंज लीडर को बहुत है, मगर आराम के साथ' वाली आरामतलब कांग्रेसी राजनीति का संस्कार उनके मन पर इतना गहरा है कि वे अभी तक उससे उबर नहीं पाते।

जोड़कर देखना चाहिए-"हम स्वयं ईसाइयत के सत्य पर दृढ़ता से विश्वास करते हैं और धर्म से प्राप्त सन्तोष को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करते हैं; पर साथ ही अपनी प्रजा के किसी भी भाग पर अपने विश्वास को थोपने की इच्छा और अधिकार को अस्वीकार भी करते हैं। हम अपने इस शाही संकल्प की घोषणा करते हैं कि किसी के साथ पक्षपात नहीं किया जाएगा और धार्मिक विश्वास या मान्यता के आधार पर किसी को अपमानित नहीं किया जाएगा; और न ही किसी को अयोग्य ठहराया जाएगा, प्रत्युत सबको समान और निष्पक्ष रूप से कानून की सुरक्षा प्राप्त होगी। और हम अपने अधीन समस्त कर्मचारियों और अधिकारियों को यह सख्त ताकीद करते हैं कि वे हमारी समस्त रियाया पर धार्मिक विश्वास और पूजा की विधि में किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप से बाज आवें, अन्यथा उन्हें हमारे कोप का भाजन बनना पड़ेगा।" जरा सोचकर देखिए कि सत्यार्थप्रकाश का उक्त सन्दर्भ महारानी विक्टोरिया की इस घोषणा का करारा प्रत्युत्तर है या नहीं? 1857 के समर से बिना जोड़े इस सन्दर्भ की सही संगति नहीं लग सकती।

दीनदयाल कौन है?

सन् 1857 के स्वातन्त्र्य समर के प्रति ऋषि का यह दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाने के बाद यह प्रश्न शेष रहता है कि ऋषि ने यदि उसमें सक्रिय भाग लिया, तो किस रूप में लिया? अज्ञात जीवनी का कहना है कि उस समर के तत्कालीन नेता नाना साहब धुन्धु पन्त, अजीमुल्ला खाँ, बाला साहब, तात्या टोपे, बाबू कुंवर सिंह, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई और बंगाल के श्री गोविन्दराय से स्वामी जी का सम्पर्क था; और ये नेता हरिद्वार में कुम्भ के मेले पर चण्डी पर्वत के शिखर पर एकान्त में उनसे मिले थे; और समर की पूर्व-योजना के सम्बन्ध में उनसे विचार-विनिमय किया था। उस विद्रोह में कमल और चपाती का जो प्रतीक चुना गया था, वह मूल रूप से ऋषि का ही सुझाव था जिसे अन्य सबने स्वीकार कर लिया था। अज्ञात जीवनी का कहना है कि विद्रोह के समर्थन में साधुओं को संगठित करने का दायित्व ऋषि ने सम्भाला था। साधुओं के ऐसे सशस्त्र संगठन उस समय विद्यमान थे; और अंग्रेजी सेना से उनकी कहीं-कहीं मुठभेड़ भी हुई थी, इसके प्रमाण अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। कह सकते हैं कि, नर्मदा और गंगा-तट की परिक्रमा तथा दक्षिण भारत का भ्रमण ऋषि ने इसी उद्देश्य से किया था।

उक्त विद्रोह में साधुओं का भी सक्रिय योगदान था, इस विषय में इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान् दिवंगत श्री पं. सत्यकेतु विद्यालंकार ने 'आर्यसमाज के इतिहास' के प्रथम खण्ड के अन्तिम अध्याय में ब्रिटिश अभिलेखागार से प्राप्त बाबा सीताराम की गवाही का उल्लेख किया है। बाबा सीताराम को मैसूर के पास गिरफ्तार किया गया था। उनकी लम्बी गवाही मेजर एच. बी. देवरा के समक्ष हुई थी जो 18 जून से 25 जून, 1858 तक चली थी। इस गवाही की पुष्टि उन्ही दिनों फ्रेंच में लिखे गए एक उपन्यास से भी होती है, जो अंग्रेजी में 'मरियम - 1857 के भारतीय गदर की कहानी' (Marium & A Story of the Indian Mutiny of 1857) नाम से अनूदित हुई थी।

सैनिक कमीशन द्वारा यातना दिये जाने के पश्चात् बाबा सीताराम ने यह स्वीकार किया था कि इस विद्रोह का संचालन नाना साहब के गुरु 'दस्सा बाबा' ने किया है जो कांगड़ा से परे कालीधार की तरफ रहते हैं और जिनकी आयु 125 वर्ष है। उनका एक शिष्य दीनदयाल है, जो दक्षिण भारत में काम कर रहा है। दक्षिण-भारत के अनेक राजाओं को और तिरुपति के शिवराम बाबा को पत्र लिखकर इस विद्रोह में सहयोग देने के लिए लिखा है। सीताराम बाबा ने यह भी बताया कि सिन्धिया-नरेश की दादी बैजीबाई कई वर्षों से इस विद्रोह की योजना बना रही थी। इधर नाना साहब भी ऐसे ही प्रयत्न में लगे थे। दस्सा बाबा के परामर्श से दोनों सहयोग करने को तैयार हो गए और आगे की योजनाएँ इन दोनों के सहयोग से ही बनीं। सीताराम की गवाही से यह भी पता लगा कि दक्षिण भारत में काम कर रहे दीनदयाल अकेले नहीं थे, उनके साथ बीस साधु और थे। वे साधु मालाएँ और जटाजूट तथा बाजूबन्द धारण किया करते थे और पत्र आदि उन्हीं में छिपाकर रखा करते थे।

श्री सत्यकेतु जी का अनुमान है कि दस्सा बाबा और दीनदयाल ये दोनों नाम एकदम सही नहीं हैं और असली नामों को गोपनीय रखने के लिए ही सीताराम ने उक्त नाम दे दिये हैं। उनके कथनानुसार दस्सा बाबा नाम से अभिप्राय दशनामी साधु से हो सकता है। शंकराचार्य ने साधुओं के जो दस संगठन बनाए थे, वे दशनामी कहलाते हैं। उन्हीं दशनामी साधुओं में सरस्वती, तीर्थ और भारती आदि उपनाम धारण करने वाले साधु भी सम्मिलित हैं। वे दशनामी साधु शस्त्र भी धारण करते थे और उनकी सेनाएँ युद्ध में भी भाग लिया करती थीं। अंग्रेजों से जहाँ-जहाँ उनकी मुठभेड़ हुई उसे इतिहास में 'संन्यासी विद्रोह' की संज्ञा दी गई है। नाना साहब और रानी झाँसी के पक्ष में दशनामी साधुओं के महानिर्वाणी अखाड़े ने रणक्षेत्र में शस्त्र लेकर संघर्ष किया

स्वामी जी ने हमारे घर में केवल एक गिलास दूध पीया था।" 21 फरवरी, 1935 को जब रवि बाबू ने लाहौर में डी. ए. वी. कॉलेज के छात्रों को सम्बोधित किया था, तब भी इससे मिलता-जुलता संस्मरण सुनाया था।

कलकत्ता के बाद

कलकत्ता-प्रवास के बाद दयानन्द बर्दवान और हुगली होते हुए भागलपुर, पटना, छपरा, डुमरांव और आरा आदि स्थानों का भ्रमण करते रहे। वहाँ व्याख्यान देते रहे और पौराणिक पण्डितों से शास्त्रार्थ भी करते रहे। उसके बाद इलाहाबाद, कानपुर, लखनऊ, फर्रुखाबाद और कासगंज की यात्रा में भी यही क्रम जारी रहा। सन् 1873 के दिसम्बर मास में अलीगढ़ के कलक्टर राजा जयकृष्ण दास सी. एस. आई. ने उन्हें अलीगढ़ आमन्त्रित किया। अलीगढ़ में ही ऋषि की अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के संस्थापक और प्रगतिशील मुस्लिम नवयुवकों के प्रेरणा-पुरुष सर सैयद अहमद खाँ से भेंट हुई। अलीगढ़ में सर सैयद के निवास-स्थान पर भी ऋषि का भाषण हुआ। राजा जयकृष्णदास ने ऋषि से आग्रह किया कि वे अपने उपदेशों और विचारों को पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित कर दें तो उससे दूरस्थ जनता भी लाभान्वित होगी।

तदनन्तर हाथरस, मुरसान, वृन्दावन, मथुरा, इलाहाबाद होते हुए, वहाँ व्याख्यान देते हुए सन् 1874 के मध्य में वे पुनः काशी पहुँचे और सत्यार्थप्रकाश बोलकर लिखवाना प्रारम्भ किया। बनारस में ही उन्होंने पहला हिन्दी भाषण दिया। बनारस से ही सत्यार्थप्रकाश का पहला संस्करण प्रकाशित हुआ, जिसमें उनकी अनुपस्थिति के कारण और हिन्दी का पूर्ण अभ्यास न होने से कई त्रुटियाँ रह गईं, जिसे देखते हुए ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश का दूसरा संस्करण स्वयं अपने हाथ से उदयपुर में बैठकर लिखा। यही दूसरा संस्करण इस समय सर्वत्र मान्य है।

सन् 1874 के उत्तरार्ध में जबलपुर और नासिक आदि स्थानों पर होते हुए, व्याख्यान देते और शास्त्रार्थ करते हुए बम्बई वालों के आग्रह से बम्बई पहुँचे। उस समय गुजरात और महाराष्ट्र दोनों बम्बई प्रान्त में ही शामिल थे। बम्बई में उनकी प्रार्थनासमाज के नेताओं से भेंट हुई। वहाँ उन्होंने वैष्णव मत और वल्लभाचार्य के मत का जबरदस्त खण्डन किया। बम्बई के अधिकांश प्रतिष्ठित सेठ-साहूकार वल्लभ-मतानुयायी थे। उन्हीं लोगों में से अनेक वल्लभमतानुयायी, स्वामी जी के व्याख्यानों को सुनकर उनके भक्त बन गए। बम्बई में ही उन्होंने 'वल्लभाचार्य मत खण्डन' पुस्तक लिखी, अद्वैत मत का खण्डन किया, मूर्तिपूजा के विरोध

में भाषण दिये, ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र का भाष्य प्रकाशित किया और गुजराती तथा मराठी-अनुवाद सहित उसे अनेक विद्वानों के पास अवलोकनार्थ भेजा। परन्तु ग्रिफिथ जैसे आंग्ल और विशुद्धानन्द जैसे पौराणिक विद्वान् उससे सहमत नहीं हो सके। 'वेदान्तिध्वान्त निवारण', 'पंच महायज्ञ विधि' और 'संस्कारविधि' बम्बई में ही लिखी गईं। उनके विरोधी उनको मारने की धमकी देने लगे। कुछ लोगों ने अंग्रेज अधिकारियों का दयानन्द को कोपभाजन बनाने के लिए उनके बारे में यह प्रचार भी किया कि 1857 के विद्रोह में दयानन्द ने विद्रोह के नेता नाना साहब का साथ दिया था। (1857 के स्वातन्त्र्य-समर में ऋषि के सक्रिय योगदान का यह भी एक प्रमाण है कि उस समय भी कुछ लोगों को इस बात की जानकारी थी।) तभी ऋषि के प्रशंसकों और भक्तों ने उनसे आग्रह किया कि अपने मन्तव्यों के प्रचार के लिए वे बाकायदा एक संगठन की स्थापना करें।

आर्यसमाज की स्थापना

ज्यों-ज्यों वल्लभ-मतानुयायी अपने स्वार्थों पर आघात होते देख तिलमिलाने लगे, त्यों-त्यों उनके दुराचार और अनाचार के भण्डाफोड़ से विचलित होकर ऋषि के भक्त बने वल्लभ-मतानुयायियों ने ही ऋषि से अलग संगठन की स्थापना का अधिकाधिक आग्रह करना प्रारम्भ कर दिया। पर ऋषि को कोई उतावली नहीं थी, क्योंकि कलकत्ता में वे ब्रह्मसमाज का विघटन देख चुके थे। वे अहमदाबाद, बड़ौदा, सूरत, नडियाद, राजकोट आदि गुजरात के स्थानों की यात्रा पर चल पड़े।

वहाँ से लौटकर सन् 1875 के जनवरी मास में वे पुनः बम्बई आए तो आर्य-समाज की स्थापना पर सक्रिय रूप से विचार प्रारम्भ हुआ। एक बार प्रार्थना-समाज को ही आर्यसमाज का रूप देने की चर्चा भी चली, पर वह भी कृतकार्य नहीं हुई। आर्यसमाज की विधिवत् स्थापना से पूर्व ऋषि ने वैसा आग्रह करने वालों के समक्ष अपनी स्थिति मार्मिक शब्दों में स्पष्ट की-

"भाई, हमारा कोई स्वतन्त्र मत नहीं है। मैं तो वेद के अधीन हूँ; और हमारे भारत में पच्चीस कोटि आर्य हैं। कई-कई बात में किसी-किसी में कुछ-कुछ भेद है, सो विचार करने से आप ही छूट जाएगा। मैं संन्यासी हूँ, और मेरा कर्तव्य यही है कि जो आप लोगों का अन्न खाता हूँ इसके बदले जो सत्य समझता हूँ उसका निर्भयता से उपदेश करता रहूँ। मैं कुछ कीर्ति का रागी नहीं हूँ। चाहे कोई मेरी स्तुति करे या निन्दा करे, मैं अपना कर्तव्य समझ के धर्म-बोध कराता हूँ। कोई चाहे माने वा न माने, इसमें मेरी कोई हानि या लाभ नहीं है।"

ले जाने का प्रयत्न करते हैं। इतिहास की शिक्षा यही है कि कोई भी महापुरुष जन्म से महापुरुष नहीं होता, किन्तु अपने समय की परिस्थितियाँ ही उसे महापुरुष बनाती हैं। पराधीन भारत में दयानन्द, गांधी, तिलक, विवेकानन्द, रवीन्द्र, सुभाष प्रभृति जैसे नररत्न पैदा हुए, क्या वैसे नररत्नों की कल्पना स्वाधीन भारत में की जा सकती है? जितनी तीव्र क्रिया होगी, उतनी ही तीव्र प्रतिक्रिया होगी- यह विज्ञान का सिद्धान्त है। भारत का जितना तीव्र अध:पतन हुआ था उसी का यह परिणाम था कि उसने अनेक ऐसी विभूतियों को जन्म दिया जो केवल भारतवन्द्य नहीं प्रत्युत विश्ववन्द्य हैं। दु:ख को इसीलिए रसायन कहा जाता है।

यदि इस श्लोक का मनोविज्ञान-परक अर्थ किया जाए तो उसे यों समझा जा सकता है कि अपने चारों ओर धर्म को घटता और अधर्म को बढ़ता देखकर किसी दृढ़संकल्प धर्मात्मा व्यक्ति के मन में यह भाव आ सकता है कि मैं अधर्म का नाश करके धर्म का राज्य स्थापित करूंगा। यह भी एक शाश्वत सामाजिक प्रवृत्ति है जो सभी धार्मिक महापुरुषों के जीवन में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इस प्रवृत्ति को हृदयंगम किये बिना विभिन्न देशों में पैदा हुए विभिन्न महापुरुषों के जीवन की व्याख्या की ही नहीं जा सकती। यही वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी है। इसीलिए इस श्लोक से अवतारवाद सिद्ध करने वालों को उत्तर देते हुए ऋषि ने लिखा है कि "वेद-विरुद्ध होने से अवतार लेने की बात प्रमाण नहीं मानी जा सकती। किन्तु ऐसा हो सकता है कि श्रीकृष्ण धर्म की रक्षा करना चाहते थे कि मैं युग-युग में जन्म लेकर श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों का नाश करूँ तो इसमें कुछ दोष नहीं।"

"न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्। कामये दु:खतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्।" मैं राज्य नहीं चाहता, स्वर्ग नहीं चाहता, मोक्ष भी नहीं, किन्तु दु:ख से सन्तप्त नर-नारियों का दु:ख नाश करने के लिए इस लोक में जन्म ग्रहण करना चाहता हूँ-यही तो सत्पुरुष की असली मनोभावना है। और यह कितनी प्रबल होती है, इसकी कल्पना इसी से की जा सकती है कि दु:खीजनों के दु:ख-नाश के लिए वह राज्य, स्वर्ग, मोक्ष सभी को तिलांजलि देने को तैयार है। मोक्ष न चाहने से ही यह अर्थ स्वयं निकल आता है कि मैं इस लोक में जन्म ग्रहण करना चाहता हूँ।

जैसे वेद को समझने के लिए वेद स्वयं सहायक है, वैसे ही गीता ने भी बहुत बार अपनी गुत्थियाँ अपने-आप खोल दी हैं। उक्त श्लोक में यही तो कहा है न- **'तदात्मानं सृजाम्यहम्'**-यहाँ **'आत्मानं'** शब्द का क्या

अभिप्राय है, यह गीता से ही पूछना चाहिए। जिस व्यक्ति ने गीता में–**'तदात्मानं सृजाम्यहम्'** लिखा, उसी ने लिखा है: **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** अर्थात् ज्ञानवान योगी को तो मैं अपना आत्मा ही मानता हूँ। अब **'तदात्मानं सृजाम्यहम्'** में **'आत्मानं'** शब्द के स्थान पर **'ज्ञानिनम्** शब्द रखकर देखिए–**'तदा योगिनं सृजाम्यहम्'** का अर्थ होगा–मैं ज्ञानी को पैदा करता हूँ। (यहाँ **'सृजामि'** शब्द को **'लुप्तणिजन्त'** प्रयोग मानना होगा, अर्थात् **'सर्जयामि'** के स्थान पर **'सृजामि'** शब्द का प्रयोग हुआ है।) यदि **'सृजामि'** को **'सर्जयामि'** मानने में बाधा हो और उक्त श्लोक को श्रीकृष्ण के ही मुख का वचन मानना हो तो अर्थ यह हो जाएगा कि "योगी के रूप में मैं जन्म लेता हूँ।"

अब जरा पूरे श्लोक का अर्थ देखिए, "जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं किसी योगी (महापुरुष) को पैदा करता हूँ।" यह अर्थ समाजशास्त्र के दृष्टिकोण से सर्वथा सुसंगत हुआ या दूसरा अर्थ यह होगा–जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब कोई योगी (मैं) पैदा होता है (हूँ)। यह अर्थ मनोविज्ञान की दृष्टि से सुसंगत होता है। इससे अधिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण और क्या हो सकता है?

तर्क से अवतारवाद का खण्डन

इस प्रकार किसी प्रमाण से अवतारवाद के सिद्ध होने की सम्भावना नहीं। रही तर्क की बात, क्या तर्क से अवतार सिद्ध किया जा सकता है? यह और भी कठिन है। जब एक बार ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी और निराकार मान लिया, तब तर्क से ईश्वर का अवतार कैसे सिद्ध किया जा सकता है? जो निराकार और सर्वव्यापक है, वह आकार ग्रहण करने के लिए माँ के पेट में एक-स्थानबद्ध कैसे रहेगा? फिर जो जन्म लेगा वह मरेगा भी अवश्य। जो जन्म और मरण, दोनों के चक्कर में पड़ा वह सामान्य मनुष्य ही होगा, ईश्वर नहीं। कहा जाता है कि राक्षसराज रावण और पापी कंस को मारने के लिए राम और कृष्ण के रूप में ईश्वर को अवतार लेना पड़ा। कैसी बचकानी-सी बात है! सोचिए, किसी चीज को बनाना अधिक आसान होता है या बिगाड़ना? जिस इमारत को सैकड़ों मजदूर मिलकर महीनों तक परिश्रम करके बनाते हैं, उसी को चन्द मजदूर चन्द दिनों में गिराकर रख देंगे।

मानना ही होगा कि बिगाड़ने की अपेक्षा बनाना कहीं कठिन कार्य है। सो रावण और कंस जैसे व्यक्तियों को, फिर वे कितने ही शक्तिशाली क्यों न हों,